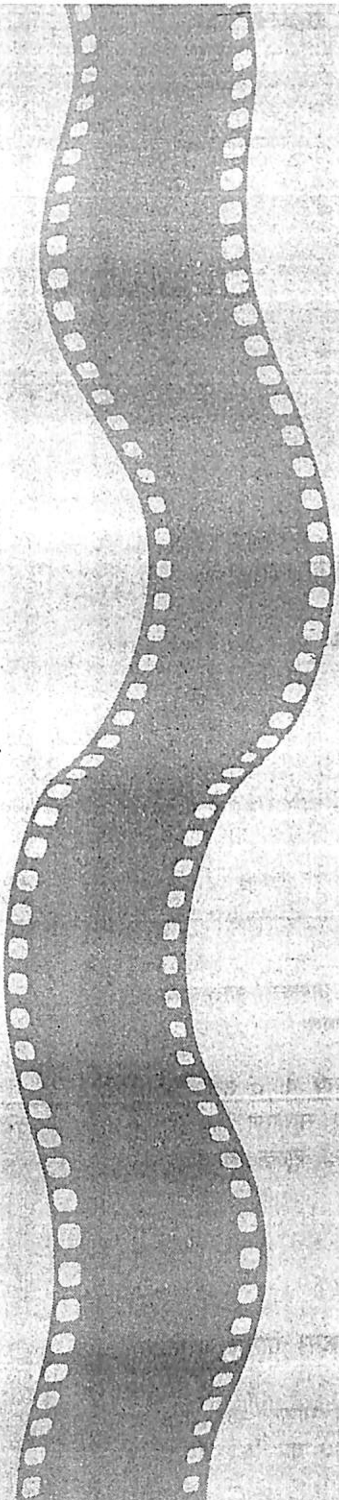




पटकथा

शास्त्रीय सिनेमा पर एकाग्र सीरिज़

सम्पादक
श्रीराम तिवारी

मध्यप्रदेश
फ़िल्म विकास निगम का प्रकाशन

पटकथा

शास्त्रीय सिनेमा पर एकाग्र सीरिज़

जून 1991

वर्ष 4 ● अंक 2 ● संख्या 11 ● 1991

प्रकाशक

ओ.पी. दुबे

सम्पादक

श्रीराम तिवारी

सहायक सम्पादक

सुनील मिश्र

अभिकल्प

हरचन्दन सिंह भट्टी

जी. अरविन्दन के चित्र के छायाकार: नवल जायसवाल

नूतन के चित्र: फ़िरोज़रंगूनवाला

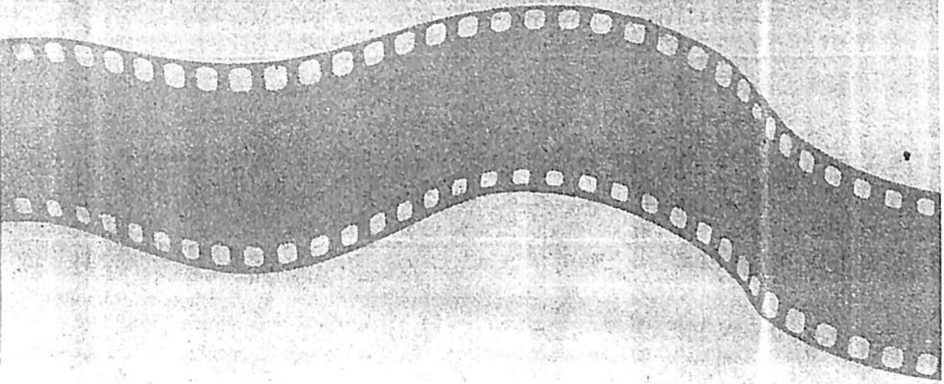
एक अंक 20 रुपये, वर्ष के 4 अंक 80 रुपये
वार्षिक ग्राहकों के लिए साधारण डाक से शुल्क 60 रुपये
रजिस्टर्ड डाक से रजिस्ट्री शुल्क अतिरिक्त

सम्पर्क

मध्यप्रदेश फ़िल्म विकास निगम मर्यादित

ई-1/90 अरेरा कॉलोनी भोपाल-462 016

फ़ोन: 566908 563810 तार फ़िल्मडेव



इस अंक में . . .



समय में गढ़ते हुए

आन्द्रेई तारकोवस्की

फ़िल्मीय बिम्ब

"बात को कुछ इस तरह कहें : कोई आत्मिक— यानि महत्वपूर्ण फ़ेनोमना महत्वपूर्ण है तो विशेषकर इसीलिए क्योंकि वह अपनी स्वयं ही की सीमा लाँघता है; वह किसी विशाल आध्यात्मिक और ज़्यादा ही बड़ी सार्वभौमिक बात की अभिव्यक्ति और प्रतीक की तरह, बल्कि भावनाओं और विचारों का एक समूचा संसार अपने ही भीतर मूर्त कर प्रस्तुत होता है— यही उसके महत्व का पैमाना है।"

— टॉमस मान, **दि मैजिक माउन्टेन**

यह कल्पना करना ही मुश्किल है कि *कलात्मक बिम्ब* जैसी कोई अवधारणा किसी ऐसे सुनिश्चित सिद्धांत के रूप में व्यक्त की जा सकती है जो आसानी से सूत्रबद्ध और बोधगम्य हो सके। यह संभव नहीं है, और कोई भी नहीं चाहेगा ऐसा हो। मैं सिर्फ़ इतना ही कहूँगा कि बिम्ब अनंत में फ़ैलते हुए चरम की ओर बढ़ते हैं, और फिर, जिसे हम बिम्ब का *विचार* कहें— कि वह बहुआयामी और बहुअर्थी है— वह, ठीक अपने स्वभाव ही के तईं, शब्दों में व्यक्त नहीं हो सकता। लेकिन कला में वह अपनी अभिव्यक्ति खोज लेता है। *विचार* के किसी कलात्मक बिम्ब में अभिव्यक्त होने का अर्थ यही होगा कि उसके लिए कोई बिल्कुल उपयुक्त रूप— रचनाकार के संसार को बहुत सूक्ष्मता के साथ संप्रेषित करने वाला रूप— मिल गया है। यहाँ मैं यह कोशिश करूँगा, कि आम तौर से जिन्हें बिम्ब कहा जाता है उसकी किसी संभाव्य व्यवस्था— कि जिसके भीतर मैं सहज और मुक्त महसूस कर सकूँ ऐसी व्यवस्था— के पैरामीटर्स को परिभाषित करूँ।

यदि तुम अतीत को, यानि अपने पीछे बिखरे पड़े जीवन को, यानि उसके अत्यंत जीवंत क्षणों को याद करने के लिए दिमाग़ पर जोर डाले बिना ही, उस पर बिल्कुल सहज नज़र डालो, तब, जिनमें तुम हिस्सेदार रहे उन घटनाओं की एक-एक विशिष्टताओं को, और जिन पात्रों से मिले उनकी विलक्षण वैयक्तिक-विशिष्टताओं को याद कर चकित होते हो। यह अकेली-अकेली निजी विशिष्टता अस्तित्व के हर क्षण के प्रबल लक्षण की तरह है; जीवन के हर क्षण में, स्वयं जीवन-सिद्धांत ही अपने-आप में विलक्षण है। इसीलिए, कलाकार उस सिद्धान्त को ग्रहण करने की कोशिश करते हुए उसे देह प्रदान करता है, हर बार नयी देह और हर बार आशा करता है— हालाँकि व्यर्थ में— कि वह मानवीय अस्तित्व के सत्य की संपूर्ण छबि हासिल कर लेगा। सौनदर्य की गुणवत्ता जीवन के उस सत्य में है जो कलाकार के द्वारा नयी तरह से, उसके व्यक्तिगत स्वप्न के अनुरूप, आत्मसात् किया जाये और प्रकट हो। कोई भी, ज़रा-सी सूक्ष्मता से देखे तो लोगों के व्यवहार में चालबाज़ी और असलियत, छलकपट और ईमानदारी, पाखण्ड और सत्यनिष्ठा के बीच भेद को हमेशा चीन्ह लेगा। जीवन के अनुभव द्वारा हमारे बोध में एक तरह की छन्नी जन्म लेती है जो हमें उस चमत्कार पर यक़ीन करने से रोकती है जिसमें संरचनात्मक विन्यास— अप्रासंगिक बन जाने या अनजाने टूटता है।

कुछ लोग झूठ बोलने में अयोग्य हैं। कुछ ऐसे हैं जो पूरे भरोसे और अंतस्फूर्ति के साथ झूठ बोलते हैं। कुछ ऐसे-भी हैं जो नहीं जानते कैसे झूठ बोलें, लेकिन झूठ नहीं बोलने में अयोग्य हैं, और बड़ी फूहड़ता और निकम्मेपन के साथ वैसा करते हैं। हमारे इस विचारणीय विषय— यानी, जीवन की तार्किक संगति के सूक्ष्म अवलोकन— के अंतर्गत दूसरी तरह के लोग ही सत्य की धड़कन को पहचान पाते हैं और किसी प्रायः ज्यामितीय महीनता के साथ जीवन की चंचल प्रवृत्तियों को भलीभाँति समझ सकते हैं।

बिम्ब अभेद्य और मायावी होता है, हमारी **चेतना** पर और, कि जिसे रूपाकृत करना चाहता है उस **यथार्थ-संसार** पर निर्भर रहता है। अगर संसार अभेद्य है, तब बिम्ब भी वैसा ही होगा। किसी-न-किसी तरह का यह समीकरण **सत्य** और **मानवीय चेतना** के (कि जो यूक्लिडियन द्वारा बँधी हुई है) दरम्यान किसी परस्पर सह-संबंध का सूचक है। हम ब्रह्मांड की समग्रता को ग्राह्य नहीं कर सकते, लेकिन काव्यात्मक बिम्ब उस समग्रता को अभिव्यक्त कर सकता है।

बिम्ब सत्य की एक धारणा है यानि हमारे आगे छाये हुए अंधकार की दरार में से प्रदान की गयी एक झलक। जब विभिन्न जोड़ सत्य की स्पष्ट अभिव्यक्ति बन ऐसा विलक्षण और बेजोड़ देहधारी बिम्ब बनाएँ कि अपनी सरलतम अभिव्यक्तियों में स्वयं जीवन ही जैसा है तभी वह देहधारी बिम्ब विश्वसनीय होगा।

जीवन के सूक्ष्मतम अवलोकन के रूप में बिम्ब हमें एकदम जापानी कविता की ओर ले जाता है।

मेरे लिए सर्वाधिक आकर्षक बात यह है कि यहाँ— पहेली को शनैः शनैः बुझाने जैसा— किसी अंतिम बिम्ब की ओर इशारा करता कोई संकेत नहीं है। हाइकू

कविता इस तरह अपना बिम्ब सहेजती हैं कि वे अपने स्वयं के सिवा और कोई अर्थ नहीं रखतीं, और उसी क्षण इतना कुछ अभिव्यक्त करती हैं कि उनके अंतिम अर्थ को पकड़ना नामुमकिन है। बिम्ब जैसे-जैसे अपनी क्रियाशीलता (फ़ंक्शन) के संगत होता जाता है वैसे-वैसे यह असंभव हो जाता है कि उसे किसी स्पष्ट बौद्धिक सूत्र में संकुचित करें। हाइकू के पाठक को उसी तरह उसमें रमना चाहिए जैसे वह प्रकृति में रमा हो; डूब कर, गहराई में जा स्वयं को बहने देते हुए, ब्रह्माण्ड में तैरता-सा कि जहाँ आकाश है न पाताल।

एक पल बाशो की इन हाइकू पंक्तियों पर ग़ौर करें :

तालाब पुराना निश्चल
एक मेंढ़क कूदा जल में
छप से आवाज़ उठी।

या :

छप्पर के लिए कटे सरकंडे
ठूँठ खड़े उपेक्षित
मुलायम बर्फ़ की बौछार तले।

या फिर :

कैसा आलस?
कोई मुझे उठा न पाया।
बसंती बारिश बुदबुदाती।

ज़िंदगी को कितनी सरलता और बारीक़ी के साथ देखा गया है! **सोच** का कितना अनुशासन और **कल्पना** की कैसी शालीनता! पंक्तियाँ अत्यंत सुन्दर हैं क्योंकि क्षण, उखड़ा और जमा है, अभिन्न और अनंत भी है।

जापानी कवि 'अवलोकन की तीन पंक्तियों' में यथार्थ के अपने खप्नों को अभिव्यक्त करना जानते हैं। उन्होंने उसे महज़ देखा नहीं, बल्कि दिव्य शांति के साथ उसके कालातीत अर्थ को खोजा। और फिर, अवलोकन जितना सूक्ष्म होगा वह उतना ही विलक्षण होगा और किसी बिम्ब का रूप लेने में उतना ही सक्षम होगा। जैसा दोस्तोवस्की ने गहरी अंतर्दृष्टि के साथ कहा, "ज़िन्दगी किसी भी गल्प से बढ़-चढ़ कर होती है।"

सिनेमा में यह बात कुछ ज़्यादा ही अहमियत रखती है कि अवलोकन ही बिम्ब का महत्वपूर्ण सिद्धान्त है जो फोटोग्राफ़िक रेकॉर्ड से प्रायः अविभाज्य है। फ़िल्मी-बिम्ब अवतार-स्वरूप, दृष्टव्य और चार-आयामी है। लेकिन, किसी भी हालत में, हर फ़िल्मी-दृश्य संसार का बिम्ब नहीं हो सकता; जैसा कि अक़सर ही वह किसी विशिष्ट पहलू ही को नहीं बखानता। तथ्यों का जस-का-तस (नेचुरलिस्टिक) निरूपण सिनेमाई बिम्ब के सृजन के लिए अपने-आप में क़तई पर्याप्त नहीं है। सिनेमा में

उभरा बिम्ब सिनेकार के स्वयं ही के भीतर उपजे किसी पदार्थ के बोध को अवलोकन के रूप में प्रस्तुत करने की योग्यता पर निर्भर है।

गद्य से एक दृष्टांत उठाएँ— टालस्टॉय की कहानी **ईवान इलीच की मृत्यु** के अंत ने हमें बताया किस तरह कैंसर की मृत्युशैय्या पर ओछे-स्वभाव की पत्नी और छिछली पुत्री से घिरा एक रूखा और घुन्ना आदमी मृत्यु के पूर्व उनके लिए क्षमा की याचना करता है! उस क्षण, बिल्कुल अप्रत्याशित रूप से, वह भलमनसाहत के इतने गहरे भाव से भर जाता है कि सुनदर वस्त्र पहनने में मगन, नृत्य-पार्टियों में गाफ़िल, संवेदनहीन और विचारशून्य उसका परिवार उसे एकाएक गहरे दुख से भरा मालूम देने लगता है जो सारी दया और करुणा का हक़दार है। और फिर, मृत्यु की नोक पर उसने महसूस किया जैसे कि वह अँतड़ी-समान किसी लंबी, कोमल काली नली में रेंगता जा रहा है।... दूर कहीं रोशनी की कोई झलक दिखाई देती है, और वह



रेंगता ही जाता है लेकिन किनारे नहीं पहुँचता, जीवन को मृत्यु से अलग करती अंतिम प्राचीर को लांघ नहीं पाता। उसकी पत्नी और लड़की पास खड़ी हैं। वह कहना चाहता है, "मुझे क्षमा करना।" लेकिन इसके बनिस्बत अंतिम क्षण में कहता है, "मुझे जाने दो।" (यहाँ अंग्रेज़ी में है "फ़ॉरगिवमी" और "लेट मी थ्रू"। लेकिन मूल रूसी शब्दों से बात ज्यादा स्पष्ट होती है।... वह कहना चाहता है "प्रोस्तीते" लेकिन बोल निकलते हैं "प्रोपोस्तीते")। स्पष्टतः वह बिम्ब, जो हमें हमारे अस्तित्व ही की गहराइयों तक हिला देता हो, उसकी केवल एक ही व्याख्या नहीं हो सकती। उसके कई अर्थ— हमारी अपनी ही धुँधली स्मृतियों और अनुभूतियों को याद करते हुए, हमें अचंभित करते हुए, किसी रहस्योद्घाटन की तरह हमारी आत्माओं को झंझोड़ते हुए— हमारी अंतरतम भावनाओं तक पहुँचते हैं। तुच्छ कहलाने का जोखिम उठाते हुए कहूँ— कि वह जीवन के, और हमने जिस सत्य का अनुमान

किया उसके इतने समान है कि वह उन स्थितियों का मुक़ाबला कर सकता है जिन्हें हम पहले-ही से जानते या कल्पना में बसाते आये हैं। अरस्तूई-सिद्धान्त के अनुसार किसी प्रतिभावान व्यक्ति द्वारा अभिव्यक्त वचन सामान्य-सा ही मालूम देता है। लेकिन, वह कितना गहरा और बहुआयामी बन जाता है यह पाठक के चित्त पर निर्भर करेगा। हमने लिओनार्दो के पोर्टेट **जूनिपर के साथ एक युवती** को फ़िल्म **मिरर** में उस दृश्य के लिए उपयोग में लिया जिसमें छुट्टी ले घर आया पिता बच्चों संग कुछ वक़्त बिताता है— ज़रा हम उस पर ग़ौर करें।

लिओनार्दो के बिम्बों की दो चीज़ें आकर्षक हैं। पहली है, **पदार्थ** को बाहर से परखने की, यानि, **संसार** को 'पीछे खड़े होकर' या 'ऊपर से' देखकर परखने की **कलाकार की क्षमता—** जो बाख़ या टालस्टॉय जैसे कलाकारों की विशिष्टता है। और दूसरी है ऐसी शिल्पकारी कि चित्र हमें एक ही पल में दो विपरीत तरीक़ों से प्रभावित करे। यह बताना संभव नहीं कि पोर्ट्रेट हमारे ऊपर अंततः क्या प्रभाव डालता है। यह भी निश्चित रूप से कहना संभव नहीं कि हम स्त्री को चाहते भी हैं या नहीं, या कि वह मनोहर है अथवा अप्रिय। उसी क्षण वह आकर्षक है, अनाकर्षक भी। उसमें, अनिर्वचयनीय रूप से, कुछ न कुछ सुन्दर है और उसी पल कुछ-न-कुछ अरूचिकर, या शैतान-सा भी कुछ है। यहाँ शैतान-सा कहने का अर्थ शब्द के रूहानी या सम्मोहनी भाव में नहीं; बल्कि अच्छा और बुरा के भाव के परे है। वह **नकारात्मक-लक्षणयुक्त सौन्दर्य** है। उसमें विकृति का कोई तत्व है— और **सुन्दरता** का भी। **मिरर** में, हमारी आँखों के समक्ष एक-दूसरे का पीछा करते क्षणों के दरम्यान कालातीत तत्व के समावेश के लिए हमें उस पोर्ट्रेट की ज़रूरत थी, और उसी पल हम नायिका के साथ पोर्ट्रेट को जक्स्टापोज़ करते हुए उसके और अभिनेत्री मार्गरिता तेरेख़ोवा के भीतर एक-ही-पल में लुभाने और जुगुप्सा उपजाने की वही क्षमता भरना चाहते थे।

यदि लिओनार्दो के पोर्ट्रेट को उसके अवयवों में विभक्त कर विश्लेषण करने की कोशिश करें तो वह फ़िज़ूल बात होगी। उससे किसी स्तर की कोई व्याख्या नहीं होगी। चित्र की स्त्री द्वारा हम पर डाला गया भावनात्मक प्रभाव ख़ासकर इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि उसमें अपनी पसंदीदा किसी भी चीज़ को ढूँढना या समग्र में से किसी एक विवरण को छाँट लेना, या किसी एक क्षणिक प्रभाव को दूसरे से ज़्यादा तरज़ीह देकर अपने स्वयं का बना लेना, या प्रस्तुत बिम्ब की ओर देखने के तरीक़े में कोई संतुलन प्राप्त करना संभव नहीं। अतः यहीं पर हमारे लिए अनंत के साथ 'खेल' करने की संभावना बन जाती है, क्योंकि कलात्मक बिम्ब की महान क्रियाशीलता (फंक्शन) किसी-न-किसी तरह से **अनंत** का खोजी बनने ही में है... जिसकी तरफ़ हर्ष और रोमांच से भरी जल्दी में हमारी भावनाएँ उमड़ती रहती हैं। बिम्ब की समग्रता के द्वारा इसी तरह की भावना उभरती है, यानि, वह हमें ख़ास इसी तथ्य से प्रभावित करती है कि उसे विच्छिन्न करना संभव नहीं। अलग-अलग पड़ कर प्रत्येक घटक मृत ही होगा— या शायद, इसके विपरीत, यह भी हो सकता है कि अपने लघुत्तम तत्वों में वह समग्र ही की, यानि पूर्ण कृति की चारित्रिक-विशेषताओं

को अभिव्यक्त करें और ये विशिष्टताएँ एक-दूसरे के विपरीत सिद्धान्तों की पारस्परिक क्रियाओं द्वारा उत्पन्न होती हैं, जिनका अर्थ, संचार-नलिकाओं में जारी कार्यप्रणाली की तरह, एक से दूसरे में फैलता जाता है (लिओनार्दो द्वारा चित्रित स्त्री का चेहरा किसी उदात्त विचार से सजीव हो उठता है और उसी क्षण धोखे से भरा भी दिखाई दे सकता है और निम्नस्तरीय आवेग भी उत्पन्न कर सकता है)। पोर्ट्रेट में कितनी ही चीज़ों को देखना संभव है, लेकिन उसके सार को ढूँढने के प्रयास में हम अनंत भूलभुलैयों में भटक जायेंगे और कभी भी रास्ता पकड़ नहीं पायेंगे। हमें इस अनुभूति से गहरा आनंद मिलेगा कि हम उसे सोख नहीं सकते, या कि उसके कण-कण को सारा देख पूरा नहीं कर सकते। खरा कलात्मक बिम्ब प्रेक्षक को अत्यंत जटिल, अंतर्विरोधी और यदाकदा परस्पर वर्जित भावनाओं की समक्षणिक अनुभूति देता है।

यह भलीभाँति जान लेना चाहिए कि उस वक्त, जब गुणवाचक अपने ही विरूद्ध हो जाये, या गुणहीन सगुण का रूप लेने लगे तब क्षण को पकड़ना संभव नहीं। 'बहुलता' बिम्ब की संरचना ही के भीतर अंतर्निष्ट है, अत्यंत निकट से संलग्न है। बहरहाल, व्यवहार में, कोई व्यक्ति, सदैव ही, किसी एक चीज़ को दूसरी से ज़्यादा तरजीह देता है, चुनाव करता है, अपने स्वयं की पसंद के अनुसार खोजता है, या अपने स्वयं के व्यक्तिगत अनुभव के बरक़्स किसी कलाकृति को निर्धारित करता है। चूँकि अपने-अपने काम में हरेक की कुछ-न-कुछ विशिष्ट प्रवृत्तियाँ होती हैं, और वह बड़ी-बड़ी या छोटी-छोटी चीज़ों में अपने स्वयं ही के सत्य का आग्रह करता है, तब जब भी वह कला को अपनी दैनंदिन आवश्यकताओं के अनुकूल बनायेगा तो किसी कलात्मक बिम्ब की व्याख्या अपने स्वयं-ही के 'लाभ' की दृष्टि से करेगा। वह किसी कृति को अपने ही जीवन के संदर्भ में निर्धारित करते हुए अपने सूत्रों के दायरों में घेरता है; क्योंकि श्रेष्ठ कृतियाँ परस्पर-विरोधी गुणोंवाली होती हैं और उनमें अनेकानेक विभिन्न व्याख्याओं की गुंजाइश रहती हैं।

किसी कलाकार को बिम्बों की उसकी अपनी ही व्यवस्था के नीचे, जानबूझकर, किसी-न-किसी प्रकार के उद्देश्य या विचारधारा का टेका लगाते देख मैं अक्सर उदास हो जाता हूँ। अपनी विधियों को समझाने की ज़रा भी गुंजाइश रखने के उसके सारे प्रयासों का मैं सख़्त विरोध करता हूँ। अपनी ही फ़िल्मों में कुछेक दृश्यों को बने रहने देने का मुझे हमेशा अफ़सोस होता है; अब वे मुझे भेद-खोलने के साक्ष्य मालूम देते हैं जिन्हें मेरी फ़िल्मों में इसीलिए गुंजाइश मिली क्योंकि मैं पूरी तरह धुन का पक्का नहीं था। यदि अब भी संभव हो तो मैं **मिरर** में से मुर्गे के दृश्य को काटना चाहूँगा चाहे उसने अनेक दर्शकों पर गहरा असर डाला हो। दरअसल, वह इसलिए फ़िल्म में आया क्योंकि मैं दर्शकों के आगे 'झुकने' का खेल खेलने लगा था।

जब, लगभग बेहोश-सी और खूब थकी नायिका, इरादा बना रही होती है कि मुर्गे की गर्दन काटे या नहीं, तब हमने, 'क्लोज़-अप' दृश्य रचते हुए, अंतिम नब्बे फ्रेम के लिए, तेज़ गति से, प्रत्यक्षतः कृत्रिम प्रकाश में उसका फ़िल्मांकन किया। चूँकि

पर्दे पर वह दृश्य धीमी गति में उभरता है अतः वह समय की रूपरेखा को फैला देने का प्रभाव डालता है— यानि हम, उस क्षण पर रोक लगा कर उसे विशिष्ट बनाते हुए, दर्शकों को नायिका की दशा जानने समझने की ओर घुमा देते हैं। यह अनुचित है क्योंकि दृश्य शुद्ध रूप से साहित्यिक अर्थग्रहण करने के लिए आरंभ होता है। हम नायिका के चेहरे को उससे स्वतंत्र करते हुए (जैसे वह उसके लिए कोई भूमिका खेल रहा हो) विरूप कर देते हैं। हम भावावेग को, अपने स्वयं ही के, यानि निर्देशक के तरीकों से निचोड़ कर, हमारी ही इच्छानुसार दर्शकों को परोसते हैं। उसकी दशा बिल्कुल साफ़ हो जाती है, और सरलीकृत ढंग से पढ़ी जा सकती है। जबकि, किसी पात्र की मनोदशा की व्याख्या करने में भेद भरा कुछ बना रहना चाहिए। इसी तरीक़े के एक ज़्यादा सफल उदाहरण को, **मिरर** ही में से ले कर उद्धरित करता हूँ: प्रिंटिग प्रेस वाले दृश्य के कुछ फ्रेम भी धीमी-गति (स्लो-मोशन)



में फ़िल्मांकित हैं; लेकिन इस प्रकरण में वह दृश्य ज़रा भी बोधगम्य नहीं है। हमने उसे पूरी नज़ाकत और सावधानी के साथ रचने का ध्यान रखा ताकि दर्शक उसे आसानी से समझ न सकें, बल्कि किसी अद्भुत बात के धुँधले भाव को महसूस करें। यहाँ धीमी-गति की विधि का उपयोग कर हम किसी विचार को रेखांकित नहीं कर रहे थे, बल्कि अभिनय के अतिरिक्त किन्हीं उपायों से मनोदशा को दर्शा रहे थे।

कुरोसोवा द्वारा रचित **मैकबेथ** का रूपांतरण एक उत्कृष्ट दृष्टांत है। दूसरा कोई औसत निर्देशक, मैकबेथ के जंगल में भटक जाने वाले दृश्य में, धुंध के भीतर रास्ता खोजने की कोशिश करते अभिनेताओं को झाड़ों से टकरा देता। लेकिन अत्यन्त प्रतिभावान कुरोसोवा बड़ा ही सुन्दर खेल करते हैं। वह ऐसी जगह चुनते हैं जहाँ एक विलक्षण, स्मरणीय पेड़ है। घुड़सवार, तीन बार उसका चक्कर लगाते हैं ताकि

साफ़ पता चल जाए कि वे उसी जगह भटक रहे हैं। घुड़सवार स्वयं महसूस नहीं करते कि वे उसी जगह भटक रहे हैं। घुड़सवार स्वयं महसूस नही करते कि वे पहले ही से रास्ता भूल गये हैं। स्पेस की अवधारणा को अपने ही तरीक़े से निरूपित करने के लिए यहाँ कुरोसोवा का पहलू अत्यन्त सूक्ष्म रूप से काव्यात्मक हो जाता है जहाँ वे किसी विरूपण (मैनरिज़्म) या आडम्बर का ज़रा-सा भी संकेत न देकर स्वयं को अभिव्यक्त करते हैं। क्योंकि तीन बार चक्कर लगाते पात्रों का पीछा करने के लिए कैमरे को घुमाने से अधिक सरलतम बात और क्या हो सकती है?

यों कहें कि बिम्ब, निर्देशक द्वारा अभिव्यक्त कोई विशेष 'अर्थ' नहीं, बल्कि, पानी की बूँद समान, एक समूची प्रतिबिम्बित सृष्टि है।

एक बार ठीक पता चल जाये कहना क्या है, अगर अपने चित्र की हरेक कोशिका को भीतर से देख कर उसे ठीक से महसूस कर लो, तो फिर सिनेमा में अभिव्यक्ति की कोई तकनीकी समस्या नहीं है। उदाहरण के बतौर, नायिका की एक अजनबी (जिसकी भूमिका **अनातोलिय** ने अदा की है) के साथ आकस्मिक भेंट वाले दृश्य में यह बहुत ज़रूरी था कि उसके जाते ही अचानक आ मिले इन दो व्यक्तियों के बीच कड़ी बिठाने के लिए कोई धागा पिरोया जाये। जाते-जाते अगर वह किसी भावपूर्ण दृष्टि से पलट कर नायिका की ओर देखता तो दृश्य अनुक्रमिक बनता हुआ व्यर्थ हो जाता। तब हमें मैदान में हवा के झोंके को दिखाने का ख़्याल आया जो अजनबी के ध्यान को आकर्षित करता है क्योंकि वह इतना अप्रत्याशित है कि उसे पीछे देखना पड़ा...। अतः इस स्थिति में, यूँ कह सकते हैं कि 'रचनाकार को उसी के खेल में पकड़ने' और उसी के अभिप्रायों को उसे ही दर्शा देने का कोई सवाल नहीं है।

जब दर्शक निर्देशक द्वारा उपयोग में ली गयी विधि से बेख़बर हो, तभी वह पर्दे पर चल रही घटना के यथार्थ में, यानि, कलाकार के द्वारा ध्यान से देखे गए जीवन में यकीन करने को बाध्य होगा। लेकिन अगर दर्शक, निर्देशक को समझ ले, और ठीक-ठीक जान जाये उसने क्यों उस विशिष्ट 'भावपूर्ण' करिश्मे को प्रयुक्त किया, तब वे पर्दे पर घटती घटना को सहानुभूतिपूर्वक समझना या उसमें बहना बंद कर देंगे, और उसके प्रयोजन और निष्पादन को जाँचना शुरू कर देंगे। दूसरे शब्दों में यों कहें, कि **मार्क्स** ने जिस 'कमानी' के बाबत चेतावनी दी वह सीट के बाहर उभर आयेगी।

गोगोल के अनुसार, बिम्ब की क्रियाशीलता (फ़ंक्शन) यही है कि वह जीवन ही को अभिव्यक्त करे, जीवन के बाबत विचारों या तर्कों को नहीं। वह जीवन का अर्थ या प्रतीकात्मक प्रदर्शन नहीं बल्कि उसकी विलक्षणता को व्यक्त करती अभिव्यक्ति है। तब 'प्रतिरूप में खरा क्या', और कला में जो कुछ मौलिक और अद्वितीय है उसके साथ उसका क्या संबंध? अगर बिम्ब विलक्षण चीज़-सा उभरे तब 'प्रतिरूप में खरा क्या' इस सोच की क्या गुंजाइश?

विरोधाभास यों कि किसी कलात्मक बिम्ब में विलक्षण तत्व रहस्यात्मक-ढंग से **प्रतिरूपक** होता है, क्योंकि अद्भुत-भाव से यह **प्रतिरूपक** तत्व उस चीज़ के साथ प्रत्यक्ष्यतः अन्योन्याश्रित हो जाता है जो वैयक्तिक है, स्वभावतः विशिष्ट है,

किसी अन्य से भिन्न है। ऐसा नहीं कि फ़ेनोमना को प्रकृत और वैसे-का-वैसा निरूपित करने पर ही 'प्रतिरूप में खरा क्या' का हमें पता चलेगा (हालाँकि अमूमन माना यही जाता है कि तभी वैसा होगा), बल्कि दरअसल उसका हमें तब पता चलेगा जब फ़ेनोमना विशिष्ट हों। कह सकते हैं कि कोई **व्यापक** चीज़ या बात किसी **विशिष्ट** चीज़ या बात को आगे ठेलती है, जो पुनः लौट कर पुनर्प्रस्तुति के दिखावटी (यानि सच को छिपा आगे आये हुए) ढाँचे के बाहर बनी रहती है। इसे किसी विलक्षण फ़ेनोमना की उपसंरचना की तरह मान लिया गया है।

अगर यह बात सामने आते ही विचित्र लगे तब तो यह ध्यान में रखना होगा कि कलात्मक बिम्ब को सत्य बताने वाले संयोजनों के अतिरिक्त किन्हीं दूसरे संयोजनों को नहीं उभारना चाहिए। (यहाँ हम बिम्ब का सृजन करने वाले कलाकार की चर्चा कर रहे हैं न कि उसे देखने वाले दर्शकों की।) काम शुरू करते ही कलाकार को मान लेना होगा कि किसी विशिष्ट फ़ेनोमना को रूप देने वाला सर्वप्रथम व्यक्ति वो ही है जो काम वह कर रहा है वह बिल्कुल पहली बार किया जा रहा है, और ठीक उसी रूप में किया जा रहा है कि जैसा केवल वो ही उसे महसूस करता या समझता है। कलात्मक बिम्ब विलक्षण और अद्वितीय है, जबकि जीवन के फ़ेनोमना पूरी तरह तुच्छ और नगण्य हो सकते हैं। यहाँ मैं दोबारा हाइकू का उदाहरण प्रस्तुत करूँगाः

नहीं मेरे घर नहीं।
वह, वह टपटपाता छाता
पड़ोसी के यहाँ चला गया।

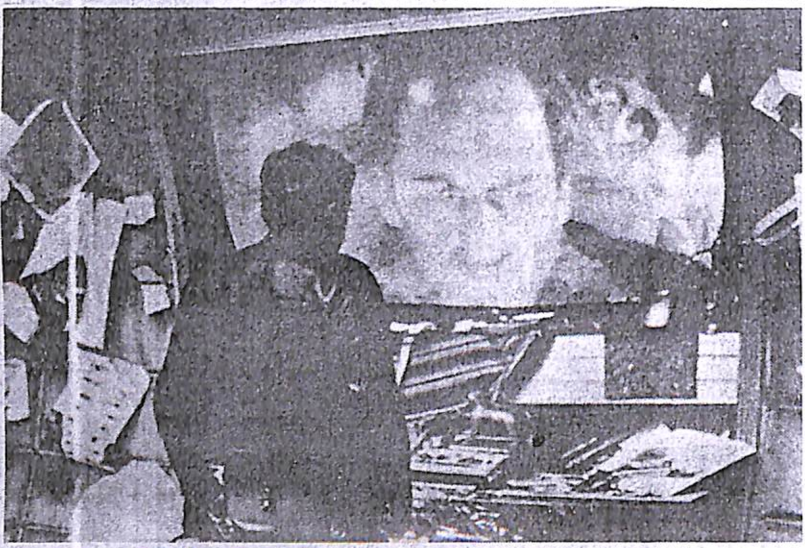
हाथ में छाता लिया कोई राहगीर, जिसे हमने अनेक बार जीवन में देखा होगा, उसे देखना अपने आप में कोई नई बात नहीं; वह आम लोगों ही में से एक आदमी है जो बारिश से बचता हुआ सपाटे में चला जा रहा है। लेकिन, कलात्मक बिम्ब के भीतर, हम, कवि के द्वारा रचे जीवन के किसी बिल्कुल अद्वितीय क्षण पर ध्यान जमाते हैं जो किसी उपयुक्त और सरल रूप में निरूपित है। उसकी मनःस्थिति को महसूस करने के लिए तीन पंक्तियाँ पर्याप्त हैं: उसका एकांत, खिड़की से झाँकता धूसर बरसाती मौसम, और एक ऐसी निरर्थक उम्मीद कि चमत्कारवश कोई उसके एकांतिक, अभागे घर में आएगा। अत्यन्त सतर्कता के साथ निरूपित की गई दशा और मनःस्थिति बिलकुल अनोखी और व्यापक अभिव्यक्ति अर्जित करती है।

इन विचारों के आरंभ में हमने जानबूझकर **उसे** टाला जिसे **गल्प के पात्र का बिम्ब (कैरेक्टर इमेज)** कहते हैं। **उसे** इस बिन्दु पर चर्चा में शामिल कर लेना उपर्युक्त होगा। उदाहरणस्वरूप, **बाशमाचकिन*** और **ओनेगिन** पर विचार करें। साहित्यिक प्रतिरूपों की शक्ल में वे किन्हीं सामाजिक नियमों का आदर्श प्रस्तुत करते लगेंगे, जो उनके अस्तित्व की पूर्वमान्य शर्तें हैं— यह तो हुई एक बात। दूसरी ओर, उनमें कुछेक सार्वभौम मानवीय विशेषताएँ हैं। सब कुछ को यों कहें साहित्य में कोई पात्र तब प्रतिरूपक बनेगा जब वह विकास के सामान्य सिद्धांतों के परिणामस्वरूप प्रचलित प्रतिमानों को प्रतिबिम्बित करेगा। प्रतिरूपों की शक्ल में,

* गोगोल की कहानी 'द ओवरकोट' का अद्भुत दुखी पात्र।

इसीलिए, यथार्थ जीवन में **बाशमाचकिन** और **ओनेगिन** के अनेक तुल्यरूप मिल जायेंगे। बेशक! लेकिन कलात्मक बिम्ब की शक्ल में वे निःसन्देह नितांत अकेले और अनुपम हैं। वे अत्यन्त ठोस हैं, अपने रचेता द्वारा विशाल स्तर पर देखे गए रूप हैं, सर्जक के दृष्टिकोण को भरपूर वहन किये हुए हैं, ताकि हम कह सकें: "हाँ, हाँ; **ओनेगिन** वह बिल्कुल मेरे पड़ोसी समान ही है।" **रास्कोलनिकोव** का शून्यवाद (निहिलिज़्म) ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय शर्तों पर निःसन्देह प्रति-रूपक है; लेकिन उसके बिम्ब की निजी और वैयक्तिक शर्तों पर वह बिल्कुल अकेला है। बेशक, **हैमलेट** भी एक प्रतिरूप है; लेकिन आसान संदर्भों के भीतर हैमलेट कहाँ देखा जा सकता है?

हम किसी विरोधाभास के सामने खड़े हैं; यानि, जो प्रतिरूपक है उसकी समूची संभाव्य अभिव्यक्त को बिम्ब ही व्यक्त करता है, और जितनी अधिक पूर्णता के साथ वह उसे अभिव्यक्त करता है उतना ही ज़्यादा वैयक्तिक, उतना ही ज़्यादा मौलिक

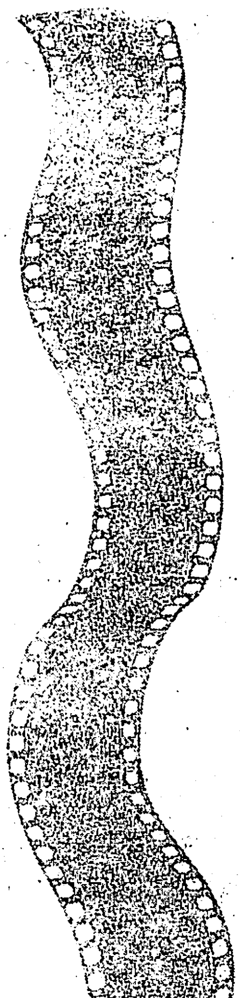


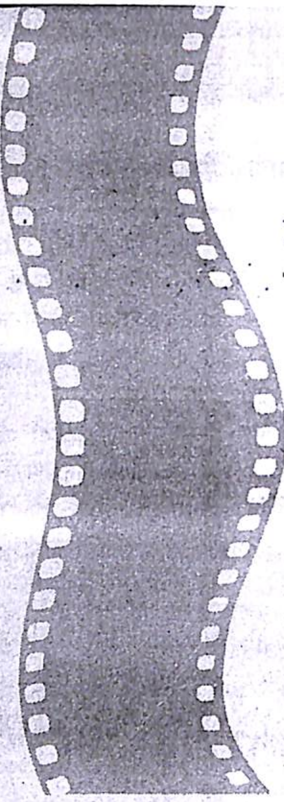
वह बनता जाता है। वह, हाँ वह, यानि **बिम्ब** वह असाधारण चीज़ है! एक माने में, वह जीवन ही से ज्यादा संपन्न है; ख़ासकर शायद इसलिए क्योंकि वह चरम सत्य के विचार को अभिव्यक्त करता है।

निःसन्देह **लिओनार्दो** और **बाख़** का व्यावहारिक रूप में कोई अर्थ नहीं है। बिल्कुल ही नहीं— उनके स्वयं का जो अर्थ है उसके अतिरिक्त उनका कोई मतलब नहीं; यही उनकी स्वायत्तता का पैमाना है। वे संसार को ऐसे देखते हैं जैसे पहली बार देखा हो, लेकिन, स्वयं को ज़रा भी नीचे झुका महसूस करते हुए कत्तई नहीं। वे उसकी ओर उन लोगों की स्वतंत्रता के ज़रिये देखते हैं जो बिल्कुल अभी-अभी पहुँचे हैं!

सारे सृजनात्मक कर्म सादगी के लिए, यानि, परिपूर्ण सरलतम अभिव्यक्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं; और इसका यही अर्थ हुआ कि जीवन के पुनर्सृजन की अथाह गहराइयों तक पहुँचना। लेकिन **यह ही**— यानि, जो आप कहना या अभिव्यक्त

करना चाहें उसके **और** तैयार किये गये बिम्ब में उपजे अंतिम पुनरुत्पादन के दरम्यान कोई सुगम उपाय खोजना— **यह ही** सृजनात्मक कर्म का सर्वाधिक कष्टसाध्य अंग है। सरलता के लिए संघर्ष ही आपके द्वारा पूर्णरूपेण समझे गये सत्य के उपयुक्त रूप को साधने की कष्टप्रद खोज है। आप उपायों की मितव्ययिता का ध्यान रखते हुए महान् चीज़ों को उपलब्ध बनाने की कुशलता हासिल करने के लिए तरसते हैं। परिपूर्णता के लिए प्रयत्नशील रहना ही किसी कलाकार को आध्यात्मिक अन्वेषणों की दिशा में, यानि यथासाध्य नैतिक उद्यम का प्रयास करने की दिशा में ले जाता है। **चरम** की आकांक्षा मानवता के विकास के लिए गतिमान आवेग है। मेरे लिए कला में यथार्थवाद का विचार उसी आवेग के साथ सम्बद्ध है। कला तभी यथार्थवादी है जब वह किसी नैतिक आदर्श को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयत्नशील हो। सत्य के लिए उद्यमशील होना ही यथार्थवाद है, और सत्य सदैव सुन्दर है। यहाँ पर ही **सौंदर्यात्मक** के साथ **नैतिक** का मेल होता है।





समय, लय और सम्पादन

फ़िल्मीय बिम्ब के बाबत मनन करते हुए मैं इस बहुप्रचारित विचार को एकदम निरस्त करना चाहता हूँ कि वह मूलतः 'संयोजित' है। मुझे यह धारणा नागवार लगी क्योंकि इसमें यह अंतर्निहित मान लिया गया कि सिनेमा सगोत्र कला रूपों के गुणों पर आधारित है और उसमें अपने स्वयं का कोई विशिष्ट गुण नहीं है— इसका मतलब तो यही होगा कि सिनेमा कला नहीं है।

फ़िल्मीय बिम्ब का प्रबल, और भरपूर-शक्तिशाली **तत्व फ्रेम** के भीतर **समय** के प्रवाह को अभिव्यक्त करती **लय** है। पात्रों के व्यवहार, दृष्टव्य हलचलों, और ध्वन्यात्मक गतिविधियों के द्वारा **समय** का वास्तविक बहाव भी स्पष्टतया प्रस्तुत होता है— लेकिन ये सब प्रासंगिक घटक हैं जिनकी अनुपस्थिति, सैद्धांतिक रूप में, फ़िल्म के अस्तित्व को क़तई प्रभावित नहीं करती। ऐसी किसी सिनेमाई कृति की कल्पना नहीं की जा सकती जिसमें चित्र (शॉट) के भीतर **समय** के बहने का भाव न हो, हालाँकि ऐसी फ़िल्म की कल्पना हो सकती है जिसमें अभिनेता, संगीत, सज्जा, बल्कि यहाँ तक कि संपादन भी न हो। **ल्यूमियर-ब्रदर्स** द्वारा रचित विख्यात कृति **अराइवी दु'न ट्रेन** का उदाहरण हमारे सामने है। उसी तरह दो- एक फ़िल्में अमरीकी अधो जगत् की भी हैं, जिनमें से एक में, सोया हुआ आदमी, जगता है, और उस **पल** में सिनेमा अपनी स्वयं ही-की जांदूगरी से बिल्कुल अप्रत्याशित और अद्भुत् सौंदर्यात्मक प्रभाव उत्पन्न करता है।

इसी तरह **पास्कल ऑबिएर*** की दस-मिनट अवधि की फ़िल्म में केवल एक चित्र (शॉट) है। पहले वह प्रकृति का जीवन दर्शाती है, भव्य और प्रशांत, जो मानवीय हड़बड़ाहटों और आवेगों से शून्य है। फिर, कला-मर्मज्ञ कौशल के द्वारा नियंत्रित कैमरा, एक नन्हे-से बिन्दु (किसी पहाड़ी की ढलान पर उगी घास में नहीं के बराबर दिखाई देते सोये-हुए किसी आकार) पर घूमता है। उसके तत्काल बाद नाटकीय क्रमपरिणति होती है। **समय का प्रवाह** हमारी उत्सुकता से प्रेरित हो, तेज़ गति पकड़ता दिखाई देता है। सब कुछ यों जैसे हम कैमरे के संग-संग, गुपचुप, बड़ी सावधानी के साथ, उस 'बिन्दु' की ओर बढ़ते हुए पास पहुँच, महसूस करते हैं कि आदमी मृत है। दूसरे क्षण हमें ज़्यादा जानकारी दी जाती है, और वह यह कि दिवंगत की हत्या हुई है; वह एक बाग़ी था जिसने ज़ख्मों के आगे दम तोड़ दिया; लेकिन हम उसे नितांत भिन्न स्वभाव की पृष्ठभूमि के बरक्स देखते हैं। हम हमारी स्मृतियों के ज़रिये बड़ी ज़ोर से उन घटनाओं पर ध्यान आकर्षित करने को विवश होते हैं जो आज के संसार को झकझोर रही हैं।

आप ग़ौर करेंगे कि उस फ़िल्म में संपादन है न अभिनय; सज्जा भी नहीं। लेकिन फ्रेम के भीतर समय की गतिविधि की लय ऐसी है जो, नितांत जटिल नाटकीय हलचल को विन्यस्त करती एकमात्र ताक़त समान है।

किसी फ़िल्म के एकाकी अवयव का पृथक-से कोई अर्थ नहीं **फ़िल्म ही कलाकृति** है। महज़ सैद्धांतिक बहस की ख़ातिर, फ़िल्म को कृत्रिम रूप से तोड़ कर ही, उच्श्रृंखलतापूर्वक हम उसके अवयवों के विषय में केवल बातें कर सकते हैं।

मैं इस धारणा को भी स्वीकार नहीं करता कि किसी फ़िल्म का प्रमुख रचनात्मक तत्व संपादन है जिसे **कुलेशोव** और **आइज़ेंस्ताइन** की तरह, 'मोंताज़ सिनेमा' के समर्थक सदी के तीसरे दशक में इस तरह मानते रहे जैसेकि फ़िल्म संपादन-कक्ष में रूप लेती हो।

यह सदैव सही बताया गया कि चुनाव और समायोजन की दृष्टि से अंगों और अवयवों की संयोजना के लिए प्रत्येक कला-रूप संपादन को अंतर्निहित मानता है। फ़िल्मांकन के दौरान सिनेमाई-बिम्ब अस्तित्ववान होकर फ्रेम के 'भीतर' विद्यमान रहता है। इसीलिए, फ़िल्मांकन (शूटिंग) के दौरान, मैं फ्रेम के भीतर समय के प्रभाव पर ध्यान देता हूँ ताकि उसे पुनः प्रस्तुत करूँ और रेकार्ड करूँ। अपने में पहले-से ही **समय** के भरे हुए चित्रों (Shots) को 'संपादन' के ज़रिये समीप लाकर फ़िल्म में अंतर्निहित एकीकृत जीवंत संरचना को व्यवस्थित किया जाता है; और ध्यान रहे कि फ़िल्म की धमनियों में धड़कता **समय** उसे सजीव रखने वाला **समय** घटते-बढ़ते लयात्मक प्रभावों का **समय** है।

* पास्कल ऑबिएर : (जन्म 1942) प्रयोगात्मक फ़िल्मों के सृजन में दिलचस्पी रखने वाले फ्रांसीसी फ़िल्म निर्देशक। गोदार और जौंसो के सहयोगी।

मैं 'मोंताज़ सिनेमा' के इस विचार— कि संपादन दो अवधारणाओं को एक साथ लाकर किसी तीसरी नयी अवधारणा को जन्म देता है— को भी सिनेमा के स्वभाव के संगत नहीं मानता। कला अवधारणाओं की पारस्परिक क्रियाओं को अपने अंतिम लक्ष्य की तरह कदापि स्वीकार नहीं कर सकती। बिम्ब किसी **ठोस** और **ऐंद्रिक** के साथ भले बँधा हो, फिर भी वह आत्मा के पार जाती रहस्यात्मक राह के किनारे-किनारे फैलता जाता है— शायद इसीलिए पुश्किन ने ठीक ही कहा, "कविता को थोड़ा-बहुत संवेदन शून्य होना ही चाहिए।"

सिनेमा का सौंदर्यशास्त्र, यानि नीचतम भौतिक पदार्थों का ऐसा मिश्रण जिसे हम प्रतिदिन पग-पग रौंदते हैं, वह प्रतीकात्मकता का प्रतिरोधी है। एक अकेली फ़्रेम ही यह दर्शाने के लिए पर्याप्त है, कि पदार्थ के चुनाव और उसे दर्ज़ करने के मामले में **निर्देशक** प्रतिभावान है या नहीं, कि उसमें सिनेमाई दृष्टि या कल्पना है या नहीं।



संपादन अंततः चित्रों (Shots) के संकलन का आदर्श रूपांतर भर ही है, अनिवार्यतः उस पदार्थ के भीतर नियंत्रित जो फ़िल्म के कुंडल पर चढ़ा हुआ है। किसी फ़िल्म का बिलकुल सही ढंग से, और पूरी दक्षता के साथ संपादन करने का यही अर्थ होगा कि विभिन्न दृश्यों और चित्रों (Scenes and Shots) को स्वतःस्फूर्त ही एकसाथ आने देना क्योंकि एक माने में वे स्वयं ही का संपादन कर लेते हैं; यानि, वे अपने स्वयं ही की आभ्यंतरिक बनावट के अनुसार संबद्ध हो जाते हैं। 'काटने' और 'जोड़ने' के वक्त सवाल महज़ उस बनावट को पहचानने और उसका अनुसरण करने भर का ही है। संबंधों की बनत का, दृश्यों के बीच संधियोजनाओं का— विशेषकर तब कि जब दृश्य पूरी तरह उपयुक्त रूप से नहीं खींचा गया हो— बोध कर लेना सदैव आसान नहीं होता; ऐसी स्थिति में विभिन्न टुकड़ों को संपादन के ज़रिये तार्किक और स्वाभाविक रूप से महज संयोजित करना ही नहीं बल्कि

घनघोर परिश्रम करके संधियोजनाओं के आधारभूत सिद्धान्त का सुराग़ लगा लेना भी ज़रूरी है। बहरहाल, थोड़ा-थोड़ा करके, आपको पदार्थ ही के भीतर बसा सारभूत तारतम्य उभरता और स्पष्ट होता दिखाई देगा।

फ़िल्मांकन (शूटिंग) के दौरान पदार्थ के भीतर बसे विशिष्ट गुणों के कारण ही, संपादन के वक़्त जिज्ञासा से भरी पूर्व प्रभावी प्रक्रिया के तहत, एक आत्म-व्यवस्थित संरचना आकार ग्रहण करती है। संपादन के स्वरूप में फ़िल्मीय पदार्थ का सारभूत स्वभाव उभर आता है।

दोबारा अपने ही अनुभव के आधार पर बताऊँ कि **मिरर** के संपादन में बहुत ज्यादा काम करना पड़ा। हमारे सामने क़रीब बीस रूपांतर थे। कुछेक दृश्यों (Shots) के क्रम में परिवर्तनों की ही बात नहीं, बल्कि मूलभूत संरचना ही में, यानि प्रसंगों के सिलसिले (सीक्वेंस) ही में महत्वपूर्ण रद्दोबदल किया जाना ज़रूरी लगा। कई बार लगा फ़िल्म का संपादन नहीं हो सकता, अतः इसका यही अर्थ हो सकता था कि फ़िल्मांकन ही के दौरान असहनीय गलतियाँ हो गयी है। फ़िल्म गुँथी हुई नहीं, अड़िग नहीं, देखने पर बिखरी-बिखरी लगे, उसमें कोई तारतम्य नहीं, अनिवार्य अंतरसंबंध नहीं, कोई तर्कसंगति नहीं। और फिर किसी उजले दिन, किसी-न-किसी तरह हमने एक आख़िरी हताश पुनर्विन्यास की कोशिश की— देखा, तो फ़िल्म तैयार थी। सारा पदार्थ सजीव हो गया; अंग-अंग अन्योन्याश्रित होकर क्रियाशील हो गये जैसे किसी रक्तप्रवाह से जुड़ गये हों; और जब उस अंतिम, हताश हरकत को पर्दे पर प्रक्षेपित किया गया, तो फ़िल्म हमारी आँखों के सामने उत्पन्न हुई। कई दिनों तक मुझे विश्वास ही नहीं हुआ कि चमत्कार— यानि फ़िल्म का संयोजन हो गया।

यह हमारे फ़िल्मांकन (शूटिंग) के पारंगत होने का साक्ष्य था। ज़ाहिर है विभिन्न अवयव तारतम्य में इसीलिए व्यवस्थित हो पाये क्योंकि पदार्थ ही में वैसा रुझान अंतर्निहित था, वह फ़िल्मांकन ही के वक़्त अद्भूत हुआ होगा; और सारी कठिनाइयों के बावज़ूद अगर हम उसके वहाँ होने के बाबत स्वयं ही को धोखा नहीं दे रहे थे तब तो पिक्चर को किसी सिलसिले में आना ही था, वही होना सारी बातों की मूलभूत प्रकृति ही में बसा हुआ था। उसका होना बिलकुल वाजिब था, सहज और तर्कसंगत, क्योंकि हमने पहले ही से दृश्यों (Shots) के सार और प्राणवत्ता को चीन्ह लिया था। और जब वह हो गया, ओह भगवान— हम सब को बेइंतहा राहत मिली। स्वयं **समय** ही, दृश्यों (Shots) के बीच बहता हुआ, मिला और एकसाथ जुड़ गया।

मिरर में लगभग दो सौ दृश्य हैं, जिन्हें बहुत कम ही माना जायेगा क्योंकि उतनी लम्बी फ़िल्म में प्रायः पाँच सौ दृश्य रहते ही हैं; संख्या का क़म होना उनकी लम्बाई के कारण है।

यद्यपि किसी फ़िल्म की संरचना के लिए दृश्यों की संयोजना महत्वपूर्ण तो हैं लेकिन वह उसकी लय का सृजन नहीं करती, भले ही आमतौर पर मान लिया गया हो कि करती है।

दृश्यों के बीच बहता हुआ विशिष्ट **समय** ही फ़िल्म की लय रचता है; और लय संपादित अंशों की लम्बाई से नहीं, बल्कि उनके भीतर प्रवाहमान **समय** के द्वारा

निर्धारित होती है। संपादन लय को कदापि निर्धारित नहीं करता (हद-से-हद वह शैली का लक्षण माना जा सकता है); दरअसल, संपादन के कारण नहीं बल्कि उसके बग़ैर ही **समय** पिक्चर के अंदर बहता रहता है। फ्रेम में दर्ज़ **समय का प्रवाह** ही वह पदार्थ है जिसे संपादन के दौरान अपने सामने बिछे अंशों में निर्देशक को पकड़ना होता है।

फ्रेम में मुद्रांकित **समय** विशिष्ट संपादकीय सिद्धान्त तय करता है; और वे अंश जो संपादित नहीं हो पाते— यानि, जो उपयुक्त तारतम्य में जोड़े नहीं जा सकते— वे, वे हैं जो अपने में मूलतः भिन्न प्रकार का समय दर्ज़ किये हुए होते हैं। मसलन, आप अवधारणात्मक समय के साथ वास्तविक समय को जोड़ नहीं सकते— वैसा करना भिन्न व्यास के नलों को जोड़ने की तरह ही हो सकता है। दृश्य के बीच बहते समय की संगति को, यानि उसकी सघनता या 'ढलान' को **समय-का-दबाव** कहें तभी हम संपादन को अंशों के भीतर बसे **समय-के-दाब** के आधार पर बनी संयोजना मान सकते हैं।

सक्रिय दबाव, या ज़ोर क़ायम रखने से ही भिन्न दृश्यों का प्रभाव संयुक्त होगा। किसी दृश्य में **समय** अपने होने को कैसे महसूस कराता है? जब आपको पर्दे पर **घटनाओं के परे** कुछ सार्थक, कुछ सत्यनिष्ठ भाव की प्रतीति हो; जब आपको बिल्कुल सचेत रूप से लगे कि फ्रेम में जो दिख रहा है वह महज़ दृष्टव्य-चित्रण ही तक महदूद नहीं बल्कि फ्रेम ही के पार अनंत तक फैली किसी बात का सूचक है; जीवन ही का संकेतक है— तब उसका अहसास होगा। बिम्ब के अनंत की तरह, जैसा कि हमने पहले बताया, कोई फ़िल्म— अगर वह सचमुच फ़िल्म हो तो— अपने स्वयं ही से बड़ी होती है। उसमें उसके सर्जक के द्वारा सचेत रूप से भरे भावों और विचारों की अपेक्षा कुछ ज़्यादा ही भाव और विचार अपने आप **उभर** आते हैं। प्रत्येक को अपने ही दृष्टिकोण से जिस **जीवन** के अर्थ लगाने और महसूस करने की अनुमति जीवन ही के द्वारा मिली हो उस निरंतर सचल और परिवर्तनशील **जीवन** ही के समान, एक सच्ची पिक्चर भी, फ्रेम के किनारों के पार बहते **समय** को ईमानदारी से फ़िल्म पर दर्ज़ कर **समय** के भीतर ऐसे सजीव है जैसे उसके भीतर **समय** सजीव है; यह दोधारी प्रक्रिया सिनेमा के लिए निर्णायक तत्व है।

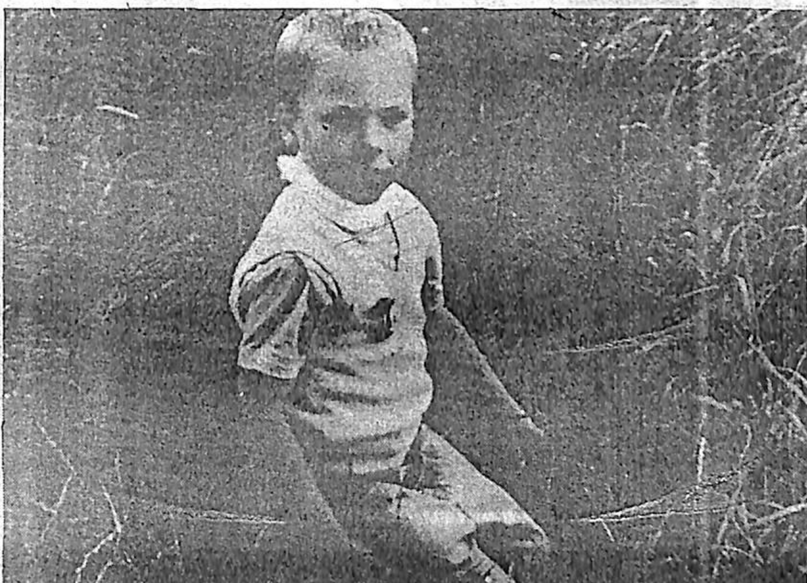
तब फ़िल्म अपनी किसी अनावृत और संपादित कुण्डली (यानि, कहानी या कथानक) के किसी प्रकट रूप के पार कुछ चीज बन जाती है। प्रेक्षक के सामने जाते ही वह अपने सर्जक से अलग हो जाती है, अपनी स्वयं ही की ज़िन्दगी जीने लगती है, रूप और अर्थ के परिवर्तनों में से गुज़रती है।

मैं **मोंताज़-सिनेमा** के सिद्धान्तों को नकारूँगा क्योंकि वे फ़िल्म को पर्दे की सरहदों के पार सक्रिय नहीं रखते; फ़िल्म में प्रेक्षकों के सामने जो कुछ हो रहा हो उसके ऊपर अपनी निजी अनुभूतियों की संगति करने की अनुमति वे नहीं देते। 'मोंताज़-सिनेमा' प्रेक्षकों के सामने गुत्थियाँ और पहेलियाँ रखता है, उनसे प्रतीकों का मतलब निकलवाता है, दृष्टान्तों में रमता है, हर पल उनके बौद्धिक अनुभव के प्रति आग्रह बनाता है। बहरहाल, इनमें से प्रत्येक पहेली का उसका अपना निश्चित, शब्दशः हल है; अतः

आइज़ेंस्ताइन— सिद्धान्त दृश्यों पर स्वयं दर्शकों की ही प्रतिक्रिया के ज़रिये अनुभूतियों को प्रभावित होने देने से वंचित करता है। अक्तूबर में जब वे **कैरेंस्की** के साथ **बेलेलाइका** (रूसी वाद्ययंत्र) को जक्स्टापोज़ करते हैं तब उनकी विधि उनका ध्येय बन जाती है, वेलरी ने जैसा चाहा उसी अर्थ में। बिम्ब की रचना स्वयं में लक्ष्य बन जाती है और इस तरह दर्शकों पर घटनाओं के बाबत अपना ही पहलू थोपता हुआ फ़िल्मकार दर्शकों का दिमाग़ कुंठित कर देता है।

अगर सिनेमा की बैले या संगीत जैसी समय-आधारित कलाओं के साथ तुलना करें तब सिनेमा **समय** को दृष्टव्य, और वास्तविक रूप देती हुई कलाकृति मालूम देगी। फ़िल्म पर दर्ज़ होते ही, सारा फेनोमना— प्रदत्त और अपरिवर्तनीय— आपके सामने होगा, इस बात के बावजूद भी कि **समय** प्रगाढ़ रूप से आत्मपरक है।

कलाकार इस तरह विभाजित हुए कि कुछ अपने स्वयं ही का आंतरिक संसार रचते



हैं तो कुछ यथार्थ का पुनर्सृजन करते हैं। बेशक, मैं पहले वर्ग में हूँ— गो कि उससे कुछ फ़र्क़ नहीं पड़ता— मेरे आंतरिक संसार में कुछ लोगों को दिलचस्पी हो सकती है, और कुछ उससे मायूस हो सकते हैं, नाराज़ भी; मगर मुद्दे की बात यह कि सिनेमाई विधि के द्वारा सृजित आंतरिक संसार को सदैव यथार्थ ही के समान मानना होगा क्योंकि रेकार्ड किये गये क्षण की अनंतरता में वह बाह्य वस्तु विषयक रूप में ही स्थापित हुआ।

संगीत की रचना के किसी अंश का कई तरीक़ों से गायन या वादन हो सकता है, उसकी समयावधि अलग-अलग हो सकती है। उसमें **समय** किसी प्रदत्त व्यवस्था में प्रस्तुत कतिपय कार्य-कारणों की महज एक साधारण शर्त है; यानि उसका चरित्र अमूर्त है, दार्शनिक है। इसके विपरीत सिनेमा, भावनाओं को छूने वाले बाह्य और

दृष्टव्य प्रतीकों में **समय** को दर्ज़ करने की योग्यता रखता है। अतः **समय** सिनेमा का मूलभूत आधार है: ठीक वैसे जैसे कि संगीत में ध्वनि, चित्र में रंग, नाटक में पात्र।

इसीलिए, लय, अंशों का परिमाणात्मक सिलसिला नहीं है; दरअसल, फ़्रेमों के भीतर बसा **समय-का-दाब** ही उसे रचता है। सो, मेरा पूरा विश्वास है कि ससंपादन' नहीं बल्कि **लय** सिनेमा का प्रमुख सृजनात्मक तत्व है।

ज़ाहिर है संपादन हर एक कलारूप में मिलेगा, क्योंकि पदार्थ को सदैव चुनना और जोड़ना पड़ेगा। सिनेमा-संपादन की विशेषता यह है कि वह फ़िल्म के अंशों में 'छपे' **समय** को एकसाथ संयोजित करता है। संपादन में उन सभी छोटे-बड़े अंशों को तारतम्य में सँजोना होता है, जिनमें, प्रत्येक में, भिन्न **समय** प्रवाहित है। और उनकी संयोजना उस **समय** के अस्तित्व की उस नयी चेतना को रचती है जो अंतरालों के, याने प्रक्रिया के दौरान काटने-छाँटने के परिणामस्वरूप उभरती है; लेकिन, जैसा कि हमने शुरू ही में बता दिया कि संयोजना का विशिष्ट स्वभाव अंशों में पहले ही से मौजूद है। संपादन किसी नयी गुणवत्ता का पुनर्सृजन नहीं करता; वह संयोजित की जा रही फ़्रेमों (Frames) में ही अंतर्निहित है। फ़िल्मांकन (शूटिंग) के दौरान ही संपादन का पूर्वानुमान रहता है; जो कुछ फ़िल्मांकित हो रहा है उस बात के स्वभाव में, उसी के द्वारा आरंभ से ही आयोजित होकर, वह (संपादन) पूर्वानुमानित है। संपादन को कैमरे द्वारा दर्ज़ **समय** की अतिशयोक्तियों और उनके अस्तित्व की तीव्रता की मात्रा के साथ ज़रूर कुछ करना होता है; लेकिन अमूर्त प्रतीकों, चित्रात्मक भौतिक-वास्तविक-सामग्रियों, दृश्य में गहरे विवेक और अत्यन्त सावधानी रख कर संयोजित की गयी संरचनाओं के साथ कुछ नहीं; दो **एक-सी अवधारणाओं** (जिनके बारे में कहा गया कि, वे जुड़ कर कोई **तीसरा अर्थ** उत्पन्न करें) के साथ कुछ नहीं; लेकिन कल्पना में लायी गयी जीवन-की-विभिन्नताओं के साथ ज़रूर कुछ करना होता है।

स्वयं आइज़ेंस्ताइन ही की कृति मेरे दावे को सिद्ध करती है। अगर उनके अंतःकरण का दखल न होता, और अगर उन्होंने संपादित अंशों में किसी खास संयोजना के द्वारा आवश्यक **समय-के-दाब** को प्रयुक्त न किया होता, तब तो वह **लय** (जिसे उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से संपादन पर निर्भर माना) उनके सैद्धांतिक आधार ही की कमज़ोरी प्रकट कर देगी। मसलन, **एलेक्ज़ेंडर नेवस्की** में बर्फ़ पर हो रहे युद्ध को ही लें। **समय-के-उपयुक्त-दबाव** के ज़रिये फ़्रेमों (Frames) को भरे जाने की ज़रूरत टाल, छोटे— बल्कि कभी-कभी खूब छोटे— दृश्यों के द्वारा वे युद्ध की भीतरी ऊर्जा को हासिल करना चाहते हैं। बहरहाल, फ़्रेमों (Frames) को बदलती सनसनाती गति के बावजूद, दर्शक (कम-से-कम वे दर्शक तो निश्चित ही कि जो खुले दिमाग़ सिनेमा देखने आये हों, जिनके दिमाग़ में यह न भर दिया गया हो कि यह तो 'क्लैसिकल' फ़िल्म है, और संपादन का 'क्लैसिकल' नमूना तो केवल **सोवियत सिनेमा संस्थान** ही में है) इस भावना से विचलित हुए कि पर्दे पर जो कुछ हो रहा है वह काहिल और अस्वाभाविक है। दरअसल कारण यह कि अलग-अलग फ़्रेमों में **समय-सत्य** बसा हुआ नहीं है। अपने आप में वे रसहीन

और गतिशून्य है। इस तरह स्वयं फ्रेम (जो विशिष्ट **समय-प्रक्रिया** से शून्य है) और संपादन की जल्दी-से-जल्दी परिणाम हासिल कर लेने वाली शैली (जो स्वच्छंद और सतही है क्योंकि वह दृश्यों के भीतर **समय** के साथ कोई रिश्ता नहीं रखती) के बीच अपरिहार्य अंतर्विरोध है। अतः निर्देशक ने जिस सनसनी को उत्पन्न करना चाहा वह दर्शक तक नहीं पहुँची क्योंकि उसने पौराणिक युद्ध के प्राणाणिक **समय-बोध** से फ्रेम को भरने की परवाह नहीं की। घटना पुनर्सृजित नही हुई बल्कि किसी पुराने तरीक़े से एक-साथ पिरो दी गयी।

सिनेमा में लय, फ्रेम के अंदर दृष्टव्य रूप से दर्ज़ पदार्थ की ज़िन्दगी से संप्रेषित होती है। सरकंडे की थरथरान से जिस तरह पता चल जाता हे कि नदी में कैसा प्रवाह और कैसा दबाव है, उसी तरह दृश्य (Shot) में पुनर्प्रस्तुत जीवन-प्रक्रिया के बहाव से हम **समय** की गतिविधि जान लेते हैं।

सर्वोपरि समय के बोध के, यानि लय के द्वारा निर्देशक अपनी वैयक्तिकता प्रकट करता है। लय **शैलीगत निशानों** से कृति में रंग भरती है। वह सोची-विचारी नहीं होती, और किसी स्वच्छंद सैद्धांतिक आधार पर रची नहीं होती, बल्कि जीवन के बाबत निर्देशक की अंतर्निष्ठ चेतना के और **समय** के बाबत उसकी अपनी 'तलाश' की प्रतिक्रिया की वजह से किसी फ़िल्म में स्वतःस्फूर्त अस्तित्ववान होती है। मुझे लगता है कि किसी दृश्य की लय महसूस करना कदाचित साहित्य में किसी ईमानदार सच्चे शब्द को महसूस करने समान ही है। लेखन में किसी अनुपयुक्त शब्द समान फ़िल्म में अनुपयुक्त लय भी कृति के सत्य का नाश करती है (निःसन्देह लय की अवधारणा गद्य पर भी प्रयुक्त हो सकती है— हालाँकि बिल्कुल दूसरे तरीक़े से)।

लेकिन यहाँ एक अपरिहार्य समस्या आ खड़ी होती है। यूँ कहें कि मुझे फ्रेम के भीतर स्वाभिमान और स्वतंत्रता के साथ बहता **समय** चाहिए, ताकि दर्शक ऐसा ज़रा महसूस न करें जैसे उसके अवबोधन (परसेप्शन) पर ज़ोर-ज़बर्दस्ती की जा रही हो, और वह फ़िल्म के पदार्थ को आत्मसात कर और मन की ओर किसी नये एवं अंतरंग अनुभव की तरह खींच कर अपने स्वयं के पदार्थ की तरह पहचानते हुए, सहज ही, कलाकार के द्वारा स्वयं को बंदी बना लिया जाने दे। लेकिन फिर भी, एक प्रकट द्वंद्व बचा रहता है : क्योंकि निर्देशक का **समय-बोध** दर्शक पर किसी-न-किसी तरह का ज़ोर-ज़बर्दस्ती वाला होता हीं है, क्योंकि वह अपने भीतर संसार को लेकर आग्रही होता है। दर्शक या तो आपकी लय (आपके संसार) में मे लीन हो आपका सहयोगी बनता है, या फिर नहीं होता है (यानि इस स्थिति में कोई संबंध स्थापित नहीं हुआ)। अतः कुछ लोग आपके **अपने** बनते हैं, और शेष अजनबी रह जाते हैं; सो, मेरे ख़याल से, यह न केवल एकदम स्वाभाविक, बल्कि, खेद के साथ कहूँ कि, अपरिहार्य है।

अतः इसे मैं अपने **काम-का-उद्यम**(प्रोफ़ेशनल टास्क) मान, **समय** के मेरे स्वयं-हो के विशिष्ट प्रवाह का सृजन कर, दृश्य (shot) में, काहिल और निद्राजनक गतिविधि को हटा, तूफ़ानी और तेज़तर्रार हलचल का भाव संप्रेषित करता हूँ— जिसे एक व्यक्ति एक तरह से तो दूसरा भिन्न तरह से देख सकता है।

संयोजना और संपादन समय के प्रवाह में व्यवधान पहुँचाते हैं, उसका क्रमभंग करते हैं और उसी क्षण कुछ नया भी देते हैं। **समय** का विरुपण उसे लयात्मक अभिव्यक्ति देने वाला उपाय भी हो सकता है।

समय-उत्कीर्णन!

लेकिन विषम **समय-दाब** के ज़बरन जोड़े गये दृश्यों को यूँ ही प्रवेश नहीं देना चाहिए; उसे किसी भीतरी जरूरत में से, यानि समग्र पदार्थ में चलती हुई किसी ऐन्द्रिक प्रक्रिया में से उभरना होता है। जिस क्षण संक्रमणों की **ऐन्द्रिक प्रक्रिया** को व्यवधान पहुँचे उसी क्षण संपादन का आग्रह दख़ल देना शुरू कर देता है (जिसे निर्देशक छिपाता है); वह अनावृत हो जाती है, आँखों की ओर झपटती है। अगर **समय** किसी आत्मिक विकास के आग्रह की प्रतिक्रिया में धीमा या तेज़ किया जाने की बनिस्बत कृत्रिम रूप से धीमा या तेज़ किया जाये, यानि लय का परिवर्तन ग़लत



हो तो परिणाम झूठा और कर्कष होगा।

असमान **समय-मूल्य** के अंशों का जुड़ना अनिवार्यतः लय तोड़ देता है। बहरहाल, अगर यह टूटन संयोजित फ्रेमों (Frames) के भीतर मौजूद सक्रिय ताक़तों द्वारा प्रोत्साहित हो, तब तो वह सही लयात्मक रूपरेखा को तराशने के लिए सारभूत तत्व हो सकता है। मसलन, कुछेक **समय-दाब,** जिन्हें रूपक के स्तर पर कुंड, नदी, बाढ़, झरना, समुद्र नाम दें— उन्हें एकसाथ जोड़ उत्पन्न हुआ अनोखा रूपाकार सर्जक का ही **समय-बोध** है, जो नये सिरे से रूपाकृत पदार्थ की तरह अस्तित्व में आता है।

जहाँ तक **समय-बोध** जीवन के बाबत निर्देशक के अंतर्निष्ठ अंतर्बोध के संगत हो, और संपादन फिल्म के अंशों में लयात्मक दबावों से तय हो वहाँ तक उसके हस्ताक्षर उसके संपादन में नज़र आ सकते हैं। वह फ़िल्म की अवधारणा के प्रति उसके रुख़ की अभिव्यक्ति, और उसके जीवन-दर्शन की चरम रूपाकृति है। मेरे ख्याल से

अपनी फ़िल्मों को सरलता से और भिन्न-भिन्न तरीक़ों से संपादन करने वाला फ़िल्मकार निश्चय ही छिछला होगा। जबकि हम **बर्गमॅन, ब्रेसाँ, कुरोसावा** या **अंतोनिओनी** के संपादन को सदैव पहचान लेंगे; उनमें से किसी एक का किसी दूसरे के साथ कभी भी घाल-मेल नहीं किया जा सकता क्योंकि अपनी फ़िल्मों की लय में अभिव्यक्त प्रत्येक का **समय-बोध** हमेशा एक-समान होगा।

बेशक, अपने व्यवसाय (प्रोफ़ेशन) के अन्य सभी नियमों की तरह आपको संपादन के नियम ज्ञात होने ही चाहिए; लेकिन कलात्मक-सृजन उसी बिन्दु से आरंभ होता है जहाँ ये नियम झुकाये या तोड़े जाएँ। **लेव टालस्टॅाय** निसंदेह बूनिन के समान दोषरहित शैलीकार (स्टायलिस्ट) नहीं थे, और उनके उपन्यासों में लालित्य और परिपूर्णता के उन लक्षणों का अभाव था जो बूनिन की कहानियों में पाये जाते हैं, लेकिन बूनिन को टालस्टाय से बड़ा लेखक नहीं माना जाता। टालस्टाय को उनके भारी भरकम, प्रायः अनावश्यक-नीतिशास्त्रीय, और बेडौल वाक्यों के लिए क्षमा नहीं किया जा सकता, लेकिन आप उन्हीं को मनुष्य के किसी रूप या लक्षण की तरह मान पसंद करने लगते हैं। जब किसी महान व्यक्ति का सामना होता है, आप उसे उसकी तमाम 'कमज़ोरियों' के साथ स्वीकार कर लेते हो, वे उनकी **सौंदर्यात्मकता** के विशिष्ट लक्षण बन जाते हैं।

जब आप दोस्तोवस्की की कृति के बरक्स उनके चरित्र-चित्रण को निचोड़ें तो वे आपको व्यग्र करते हैं : जैसे, 'सुंदर', 'चमकीले', 'पीले चेहरे', आदि। लेकिन इस बात से दरअसल कुछ फ़र्क़ नहीं पड़ता क्योंकि आप किसी आम लेखक (प्रोफ़ेशनल) की या शिल्पकार की बात नहीं कर रहे बल्कि किसी कलाकार और चिंतक के विषय में विचार कर रहे होते हैं। टालस्टॅाय को असीम आदर करने वाले **बुनिन** की नज़रों से **अन्ना केरेनिना** ख़राब ढंग से लिखी पुस्तक थी, और, जैसा सर्वज्ञात है, उन्होंने उसे फिर से लिखने की कोशिश की— लेकिन पूरी तरह असफल रहे। कलाकृतियाँ, अपने तईं, ऐन्द्रिक **प्रक्रिया** से रची होती हैं; अच्छी या बुरी हों पर वे रक्त-संचार की अपनी ही प्रणाली का **सृजन** हैं जिसे ज़रा-भी अस्तव्यस्त करना अनुचित है। संपादन के लिए भी यही बात उचित है : यह हुनरमंद व्यक्ति की तरह तकनीकी-कौशल में दक्षता हासिल करने का नहीं, बल्कि अपने स्वयं की विशिष्ट वैयक्तिक अभिव्यक्ति की ओजस्वी ज़रूरत का सवाल है। सर्वोपरि यह बख़ूबी जान लो कला की किसी अन्य विधा की बनिस्बत आपने **सिनेमा** ही को क्यों चुना, और आप इसके सौंदर्यशास्त्र के द्वारा क्या कहना चाहते हैं। प्रसंगवश, हाल के वर्षों में, **रूस** में, या जहाँ ख़ूब मुनाफ़ा होता हो उस **पश्चिम** में, सिनेमा-संस्थानों में बहुत बड़ी संख्या में युवा लोगों का प्रवेश 'जैसी मर्ज़ी वैसा करने' की इजाज़त के साथ हुआ है। यह भयानक है। तकनीक की समस्याएँ तो बच्चों का खेल हैं; जितना चाहो सीख लो। लेकिन स्वतंत्र-रूप से और पूरी योग्यता के साथ सोचना 'कुछ करना' सीखने, या अपना व्यक्तित्व बना लेने जैसी कोई बात नहीं है। किसी के लिए बाध्य नहीं कि वह ऐसा भार उठाये जो न सिर्फ़ मुश्किल बल्कि कभी-कभी बर्दाश्त ही के बाहर है; लेकिन इसके सिवा कोई चारा नहीं, उसे या तो **समूचा** होना है या कुछ नहीं।

वह आदमी जिसने इसलिए चोरी की कि दोबारा कभी नहीं करेगा सदा के लिए चोर हो ही गया। जिसने कभी भी सिद्धांतों के साथ दग़ाबाज़ी की हो वह जीवन के साथ पवित्र संबंध क़ायम नहीं कर सकता। अतः यदि फ़िल्मकार कहे वह जीविकोपार्जनार्थ कृति का निर्माण करेगा ताकि अपने स्वप्न साकार करती फ़िल्म रचने के लिए ताक़त और साधन जुटा ले— तो यह बहुत बड़ा धोखा ही नहीं, आत्म-छलना है। वह फिर कभी **अपनी** फ़िल्म नहीं बना पायेगा।

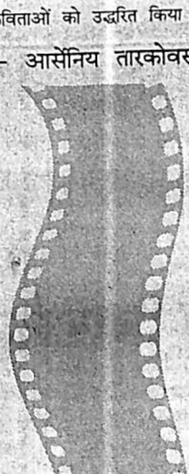
कल बाट जोहती रही सुबह से,
वे जान गये थे नहीं आओगे, भाँप गये थे।
मालूम कैसा सुन्दर दिन था वह?
छुट्टी का दिन! मुझे कोट की ज़रूरत न पड़ी।

तुम आज आये, और ये
रूखा मनहूस दिन निकला,
ऊपर से बारिश, और देर भी खूब हो चुकी
ठंडी शाखाओं से टपटपाती बूँदें।

शब्द ढाढस दे पाता न रुमाल आँसू पोंछ पाता।

आर्सेनिय तारकोवस्की :
रूसी कवि। आंद्रे तारकोवस्की
के पिता। आंद्रे ने अपनी फ़िल्मों
में कई जगह उनकी कविताओं को उद्धरित किया है।

— आर्सेनिय तारकोवस्की



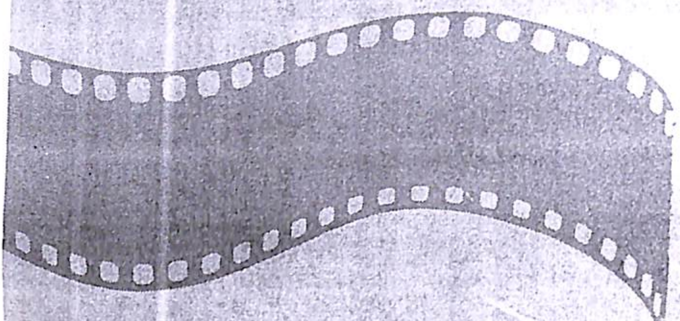
अनुवादः इन्दुप्रकाश कानूनगो





भारतीय चलचित्र के स्वर्णयुग की आख़िरी नायिका नूतन

शशिकान्त किणीकर



भारतीय चलचित्र जगत् में लगातार सितारे उभरते हैं, अपने-अपने फ़न का कमाल दिखाते हैं तथा क़ामयाबी हासिल करके मुरझा जाते हैं। सृष्टि का यह सर्वसाधारण नियम चंद सितारों के बारे में अवरोधित करता है। जहाँ तक अभिनेत्री **नूतन** का सवाल है उनके बारे में तो निःसन्देह यही बात साबित होती है। जैसे-जैसे उन्होंने क़ामयाबी के मैदान पर चढ़ना शुरु किया तथा क़ामयाबी हासिल की फिर उनको कभी पीछे मुड़कर देखने का अवसर भी नहीं मिला।

नूतन का जन्म ख़्यातनाम अभिनेत्री शोभना समर्थ तथा गये जमाने के निर्देशक कुमार सेन समर्थ से हुआ था। संभवतः इसी कारण जब नूतन सिर्फ़ नौ बरस की थीं तब उनकी माँ ने उनको बाल कलाकार की हैसियत से फ़िल्म में शरीक होने का मौक़ा दिया। उस फ़िल्म के निर्देशक उनके पिताजी कुमार सेन समर्थ थे। अतः अपने माता-पिता के साथ काम करते समय बच्ची नूतन को तसल्ली मिल गयी होगी। हालाँकि **नल-दमयंती** जिसमें नूतन ने पहली बार छोटी भूमिका निभायी थी, एक पौराणिक तसवीर थी। नूतन को इस फ़िल्म में अपनी अदाकारी पेश करने का शायद बहुत कम मौक़ा मिला होगा। यह फ़िल्म भी ज़्यादा चली नहीं और बाद में दर्शक उसे भूल भी गये। मगर सिने इतिहास में यह अभिनेत्री नूतन की पहली फ़िल्म होने की वजह से इसका ज़िक्र हमेशा होता रहा।

थोड़ा और वक़्त गुज़रता गया। नूतन का बचपन तक़रीबन ख़त्म होता जा रहा था. मगर उन्होंने जवानी में भी कदम नहीं रखा था। ऐसे वक़्त में उनकी माँ ने अपने नाम से **शोभना पिक्चर्स** नामक चित्र संस्था की नींव डाल दी और **हमारी बेटी** फ़िल्म का ऐलान किया। इस फ़िल्म की भी शोभना समर्थ ही नायिका थीं और नायक के रूप में सदाबहार अभिनेता मोतीलाल थे। नूतन ने इस फ़िल्म में उन दोनों अदाकारों की बेटी का रोल किया था। साथ ही इसमें उनकी छोटी बहन तनूजा ने बाल कलाकार की हैसियत से चित्र जगत में पहला कदम रखा था। यह फ़िल्म भी पूँजी लाने में असफल हो गयी। अपने नये रोल में नूतन ने पहली बार बड़ी भूमिका सँवारी और अपनी कला की चमक दिखायी।

यह था तरक्की का पहला क़दम। नया-नया उभरता चेहरा देखकर नूतन के बारे में चर्चा होने लगी। जिसका नतीजा यह हुआ कि पांचोली प्रॉडक्शन्स के निर्देशक रविन्द्र दवे ने उनको फ़िल्म **नगीना** के लिये अनुबंधित किया और सही तरीक़े से नायिका के रूप में पहली बार पेश किया। जाने-माने नायक नसीर ख़ान, हास्य अभिनेता गोप, उस जमाने के चोटी के चरित्र अभिनेता हीरालाल तथा बिपिन गुप्ता जैसे कलाकारों ने इस चित्र में नूतन का साथ दिया। यह एक भयसूचक दर्शक फ़िल्म थी। अतः उसे सेन्सर बोर्ड ने ए सर्टिफिकेट दिया। संगीतकार शंकर-जयकिशन का संगीत, रविन्द्र दवे का निर्देशन, डरावनी मगर दर्शकों को भयचकित करने वाली कहानी जैसे कारणों से **नगीना** सफ़ल फ़िल्म रही और नूतन के अभिनय की दर्शकों ने काफ़ी सराहना की।

इसी साल में अर्थात 1951 में रणजीत फ़िल्म्स कंपनी द्वारा निर्मित तथा ज़िया सरहदी द्वारा दिग्दर्शित **हम लोग** प्रदर्शित हुई। असाधारण कथा, लुभावना संगीत, उत्कृष्ट अभिनय, बेमिसाल निर्देशन, दर्शकों के मन में गहरा असर पैदा करने वाले संवाद तथा अन्य कारणों की वजह से यह फ़िल्म भी सफ़ल साबित हुई। श्यामा, बलराज़ साहनीं, कन्हैयालाल, दुर्गा खोटे, सज्जन, अनवर हुसैन, जी.एम. दुर्रानी वग़ैरह कलाकारों के साथ अभिनय करने का मज़ा ही कुछ और था।

हम लोग के शुरु-शुरु के एक दृश्य में सज्जन जब पहली बार नूतन को मिलता है तो वह गूँगेपन का बहाना करती है। मगर यह राज सज्जन से छिपता नहीं। डॉक्टर के पास जब वह दवा लाने के लिये जाती है और वहाँ डॉक्टर के साथ बातें करते समय जब सज्जन को नूतन के गूँगेपन का नाटक नज़र आता है तो वह भी बड़ी चालाकी से उसका *भाँडा* फोड़ देता है। बाद में जब उससे वह पूछता है कि आपने गूँगेपन का नाटक क्यों किया तो वह शरमाते हुए बोल देती है, **वह तो पहली मुलाकात थी**। इस तरह के नये विनोद दिखाने के बाद यकायक फ़िल्म गंभीर मोड़ ले लेती है और फ़िल्म के शुरु में बेकग्राउंड पर सुनाया गया गंभीर संवाद—



जिस दिये में तेल नहीं
उसको जीने का क्या अधिकार है?

दिया खुद नहीं जलता
दिये का तेल जलता है।

और दिये का तेल खत्म हो जाये तो
तो सुबह होगी

सुबह कभी नहीं होगी

धीरे-धीरे चित्रपट का सारा माहौल गंभीर बना देता है। गरीबी के कारण अनवर हुसैन खुदकुशी करता है, श्यामा और बलराज साहनी का प्यार सफ़ल नहीं होता, नूतन भी सज्जन को उसे भूल जाने के बारे में कह देती है, बीमार बाप को दवा पिलाने के लिये पैसा न होने के कारण अपार निराशा में जीने वाले बलराज साहनी परिस्थिति से ऊबकर संवाद बोल देते हैं, **जिस आदमी को कल मरना है वो आज ही क्यूं नहीं मरता?** इस तरह एक उच्चतम शोकांतिका पेश करके रणजीत फ़िल्म कंपनी ने असाधारण काम किया और दर्शकों ने भी इस अनोखी तसवीर को खूब अपनाया। फ़िल्म के सारे के सारे विभागों की दर्शकों ने प्रशंसा की जिसमें अभिनय के बारे में बलराज साहनी, अनवर हुसैन, श्यामा के साथ-साथ नूतन को भी खूब नाम मिला।

आने वाले दो-तीन साल में नूतन ने हीरोइन के रोल सँवारे मगर उनको **नगीना** तथा **हम लोग** जैसी सफलता नहीं मिली। सन् 1955 में अमिय चक्रवर्ती निर्देशित **सीमा** में उन्हें फिर एक बार बलराज साहनी के साथ काम करने का मौका मिल गया और वहाँ से नूतन का अभिनय उच्चतम स्तर पर जा बैठा।

सीमा की कहानी मनोवैज्ञानिक तरीके से लिखी गयी थी। नायिका नूतन पर समाज झूठे आरोप लगाता है तथा उसके साथ बड़ी कठोरता से पेश आता है। जिसका नतीजा यह होता है कि वह समाज के साथ झगड़ा मोल लेती है तथा ईंट का जवाब पत्थर से देने के बारे में सोचती है और उसी तरह बर्ताव करती है। लिहाजा, समाज उसे सुधारने के लिये आश्रम में भेज देता है जहाँ उसकी पहचान बलराज साहनी से हो जाती है। उनको नूतन में काफ़ी अच्छाईयाँ नज़र आती है और उन्हीं का पीछा करके वे उसे सुधारने में सफ़ल हो जाते हैं।

इस फ़िल्म में नूतन ने अपनी कला का जो नज़ारा दिखाया उससे दर्शक, टीकाकार, पत्रकार सारे के सारे प्रभावित हो गये। *हमें भी दे दो सहारा के बेसहारे हैं* गाने



के वक़्त घर से बाहर निकाली गयी तथा भूखी-प्यासी नूतन भिखारी को भीख में दी गयी अठन्नी अपने पैरों तले दबाती है और उस वक़्त उसका चेहरा पसीने से लिथड़ता नज़र आता है। दूसरे एक सीन में जब शुभा खोटे गाना गाकर उसे समझाती है—

तुम जो हँसी तो हँसती है दुनिया
रोना पड़ेगा अकेले
जीवन सफर में सुख हो या दुख हो
फिर भी है करना बसेरा
बात बात में रुठो ना
अपने आपको लूंटो ना...

एक अन्य प्रसंग में उसे जब आश्रम के कानून तोड़ने के कारण सज़ा फ़रमायी जाती है तब उसे वह अन्यायी प्रतीत होती है और वह कानून अपने हाथ में लेकर शीशा तोड़ने जैसे बर्ताव करती है। मगर जब बलराज साहनी उसे समझा-बुझाकर फ़िर एक बार शांत करते हैं तो वह *मनमोहना बड़े झूठे* जैसे गाने गाकर उनका मन बहलाती है। अन्य आश्रमवासियों की मदद करती है और जब उसे आश्रम से छुटकारा देने के बारे में निर्णय लिया जाता है तो वह फिर से अपनी नाराज़गी ज़ाहिर करती है। इन सारे दृश्यों में नूतन ने अपने अभिनय का एक ऐसा नज़ारा पेश किया कि चारों तरफ़ से उसकी प्रशंसा हुई और हिन्दी फ़िल्म जगत की अव्वल अभिनेत्रियों में उसको गिना जाने लगा। इस फ़िल्म के लिये नूतन को पहली बार फ़िल्म फ़ेअर पारितोषिक मिला तथा बाम्बे फ़िल्म जर्नालिस्ट एसोसिएशन ने भी निर्देशक अमिया चक्रवर्ती को सर्वोत्कृष्ठ निर्माता-निर्देशक चुना और नूतन को भी सर्वोत्कृष्ठ अभिनेत्री का पुरस्कार मिल गया।

इस वक़्त तक नूतन के साथ हीरो का काम करने वाले ज़्यादातर द्वितीय श्रेणी तथा तृतीय श्रेणी के कलाकार थे जिनमें शेखर, नासिर ख़ान, प्रेमनाथ, सज्जन, शम्मीकपूर, भारत भूषण, प्रदीप कुमार वगैरह कलाकारों का नाम सहसा सामने आ जाता है। मगर 1957 में जब उन्होंने फ़िल्म **बारिश** में देवआनंद जैसे प्रथम श्रेणी के कलाकार का साथ दिया तो उनकी रोमांटिक जोड़ी बहुत ही लोकप्रिय हो गयी। **बारिश** के बाद उन्होंने देवआनंद के साथ फ़िल्मिस्तान की **पेइंग गेस्ट** में भी साथ दिया और यह फ़िल्म बाक्स ऑफ़िस में सफ़ल रही। सचिव देव बर्मन के गाने हर गली तथा कूँचे कूँचे में गूँजने लगे। नूतन का अभिनय रोमांटिक रोल में **पेइंग गेस्ट** तथा **तेरे घर के सामने** फ़िल्म में निखर गया और लोगों ने उसे भली-भाँति पसन्द भी किया। अव्वल श्रेणी के कलाकार राजकपूर का साथ नूतन ने पहली बार हृषिकेश मुकर्जी की फ़िल्म **अनाड़ी** में दिया। यह जोड़ी भी काफ़ी मकबूल हो गयी और उन्होंने एक साथ **कन्हैया, छलिया,दिल ही तो है** वगैरह अन्य फ़िल्मों में काम किया। सदा बहार अभिनेता दादामुनि अशोक कुमार भी इस होड़ में पीछे नहीं रहे। वे भी **लाईट हाऊस, बंदिनी, मेहरबान, भाई-बहन** वगैरह फ़िल्मों में नूतन के

नायक बने। बाकी अन्य फ़िल्मों में धर्मेन्द्र, सुनीलदत्त, राजकुमार, संजीव कुमार, मनोज कुमार वगैरह सितारों ने भी नूतन के साथ नायक के रूप में काम किया। जब नूतन के पीछे लोकप्रियता आ रही थी तब उसने कई तरह के अलग-अलग ढंग के रोल किये। **दिल्ली का ठग** में उसने पहली बार *तैराक* लिबास पहन लिया। **सोने की चिड़िया** में वह ऐक्ट्रेस बनी थी। **चंदन** में वह वकालत करते दिखायी गयी थी। **सूरत और सीरत** में उसने भद्दी सूरत वाली स्त्री की भूमिका निभायी थी। राष्ट्रीय पारितोषिक विजेता फ़िल्म **कस्तूरी** में उसने अंधश्रद्धा मानने वाली स्त्री पेश की थी।

नूतन का अभिनय चरमसीमा पर पहुँचा विख्यात निर्माता-निर्देशक बिमल रॉय की फ़िल्मों से। सन् 1959 में उसे पहली बार **सुजाता** में हरिजन लड़की का चरित्र पेश करने का मौका मिला। समाज के नीचे स्तर की लड़की कटु अनुभव सहते-सहते तथा उनको अपनाते हुए बचपन से जवानी तक आ पहुँचती है। देखने में काली कलूटी, शांत स्वभाव की, किसी को कभी न दुख देने वाली, अपना दर्दे दिल किसी के सामने न दिखाने वाली, सहमी-सी अपना प्यार किसी को भी ज़ाहिर न करते हुए सहेजती है तथा सारी मुसीबतों का सामना अकेली करती है इसका काव्यात्मक चित्रण बिमलदा ने कुशलतापूर्वक किया था। उनके निर्देशन में नूतन का अभिनय और ही ज़्यादा खिल उठा और उन्होंने भी **सुजाता** का रोल बड़ी समझदारी से किया। इस फ़िल्म के लिये नूतन को दूसरी बार फ़िल्म फ़ेअर अवार्ड भी मिला। **सुजाता** के बाद सन् 1963 में फ़िर से नूतन को बिमल रॉय ने अनुबंधित किया और उसे **बंदिनी** बना दिया। पोस्ट मास्टर (राजा परांजपे) की लड़की का यह रोल था। एक क्रांतिकारी को सहारा देकर पोस्ट मास्टर देश की स्वतंत्रता के लिये मदद करते हैं मगर उनकी लड़की उस क्रांतिकारी को अपना दिल दे बैठती है। बाद में उस क्रांतिकारी को किसी और लड़की के साथ शादी करनी पड़ती है और नूतन को अपने पिता का इंतकाल होने के बाद कुछ छोटी-मोटी नौकरी करने के बाद एक अस्पताल में नर्स की नौकरी मिल जाती है। अकस्मात् उसे उस क्रांतिकारी की पत्नी की सेवा करने के लिये नियुक्त किया जाता है। नूतन जो हमेशा हर एक के साथ बहुत ही अच्छा बर्ताव करती है, उस क्रांतिकारी की पत्नी का आचरण देखकर उसके मन में अतिपीड़ा तथा घृणा हो जाती है और नूतन ज़हर देकर उसकी हत्या कर देती है जिसके लिये उसको कारावास भुगतना पड़ता है। अंत में उसको जब कारावास से रिहा किया जाता है तो वह अपना घर बसाने के बारे में सोचती है। परन्तु इस अवस्था में उसकी नज़र उस क्रांतिवीर की तरफ़ जाती है जो तेज़ बुखार, खाँसी तथा अन्य परेशानियों का शिकार बन गया है और तड़प रहा है। अपना विचार यकायक बदलकर नूतन फिर अपनी इच्छा से उस क्रांतिकारी की सेवा करने के लिये उसके साथ जाती है। कथा तथा संवाद लेखक नवेन्दु घोष और निर्देशक बिमल रॉय दोनों की सराहना इस फ़िल्म के लिये हुई। मगर फिर भी नूतन ने अपनी अदाकारी को जिस सहजता से पेश किया, अपनी भावनाओं का संघर्ष तथा संवेदनशील दृश्यों का परिचय जिस तरीक़े से दिया उसके कारण यह फ़िल्म बेमिसाल



समझी गयी। इस फ़िल्म को ख़ास तौर पर भारत के पहले प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू को दिखाया गया। उन्होंने भी नूतन के अभिनय की प्रशंसा की।

इसी बीच जब नूतन की फ़िल्मों तथा उसके अभिनय के ढिंढोरे चारों ओर बज रहे थे तो उसने नाविक दल के कर्नल रजनीश बहल के साथ शादी की और उसे 15 अगस्त 1961 को बच्चा हो गया। नूतन को घर-गृहस्थी संभालने के लिये कुर्बानी देनी पड़ी अपनी चित्र संसार की। अतः उसने अपने पुराने क़रार खत्म करने तथा नये करार न करने का फैसला किया और इसी दौरान चित्रसन्यास लेने का भी ऐलान किया। मगर उनके पति ने अपनी नौकरी छोड़कर चित्रजगत् में आने का फैसला कर दिया। इस तरह फ़िर से एक बार उन्हें अपने पति के दिग्दर्शन में **सूरत और सीरत** के लिये धर्मेन्द्र के साथ नायिका के रूप में चित्र संसार में आना पड़ा। बेचारी नूतन अपना दो बरस का बच्चा शूटिंग स्पॉट पर लाकर व उसकी देखभाल करते-करते ही चित्र के लिये धर्मेन्द्र के साथ अपने पति के निर्देशन में प्यार का नाटक जताती रही। फ़िल्म पूरी हो गयी तथा प्रदर्शित भी हो गयी। मगर उसमें कॅमर्शियल तत्व बहुत ही कम होने के कारण धंधे की दृष्टि से असफ़ल रही और पति-पत्नी को कर्ज़ का सामना करना पड़ा। इस सांपत्तिक आपत्ति से बचने के लिये नूतन को फ़िर से एक बार चेहरे का मेकअप लगाना पड़ा और ज़्यादा से ज़्यादा पैसे देने वाले निर्माताओं के साथ काम करना उसने अधिकतर पसंद किया। इसीलिये **खानदान, रिश्ते-नाते, छोटा भाई, मेहरबान, मिलन, गौरी** जैसी मद्रासी फार्मूला फ़िल्मों का सहारा लेना पड़ा। मगर इन फ़िल्मों में भी उसने अपनी अदाकारी का परिचय दर्शकों को बहुत ही सहजता से दिया। इसका असर यह हुआ कि प्रसाद प्रॉडक्शन्स की फ़िल्म **मिलन** के लिये नूतन को फ़िल्म फ़ेअर अवार्ड चौथी बार मिल गया।

पैंतीस वर्ष की उम्र में भी नूतन नायिका के रूप में ही दर्शकों के सामने आती रही। बढ़ती उम्र का तथा शादी का असर उसके बदन पर बिलकुल नज़र नहीं आता था। इसलिये हिन्दी फ़िल्मजगत के जाने-माने निर्देशक तथा नायक उसको नायिका के रूप में ही देखना पसंद करते थे और उसकी काम की हुई **लाट साहब, दिल ने फिर याद किया, सरस्वतीचन्द्र** जैसी फ़िल्मों को अक़सर कामयाबी भी मिलती थी। देवआनंद, राजकपूर, अशोक कुमार जैसे चोटी के कलाकार का साथ देने वाली नूतन बाद में मनीष, संजय ख़ान, अजय साहनी विनोद मेहरा, अमिताभ बच्चन जॉय मुकर्जी, मिथुन चक्रवर्ती, जैकी श्रॉफ, गिरीश कर्नाड, संजय दत्त तथा अनिल कपूर जैसे नूतन पीढ़ी के नायकों का भी साथ देती रहीं।

सन् 1972 में शक्ति सामंत ने नूतन को पहली बार चरित्र अभिनेत्री बना दिया। यह फ़िल्म थी **अनुराग**। चरित्र अभिनेत्री की हैसियत से उसका अभिनय और भी तेज़ हो उठा और दर्शकों ने उसे स्नेहदिल से अपना लिया। इसका एक और भी कारण था कि नयी-नयी नायिकायें हिन्दी फ़िल्मजगत में आने लगीं तथा फ़िल्मों का *वातावरण* बदल गया। बदले की भावना, आतंक, खून-पसीना बहाने वाले मारा-मारी के दृश्य, खलनायक की काली करतूतें दिखाने में बलात्कार जैसी घटनायें इस तरह के माहौल में अभिनयनिपुण तथा संवेदनशीलता के साथ आने वाले नाजुक क्षण बहुत ही कम

दिखाये जाने लगे। धीरे-धीरे नूतन जैसी अदाकारा तथा हृषिकेश मुकर्जी, शक्ति सा जैसे निर्देशक फ़िल्मों से विराम होकर ख़ामोशी पसंद करने लगे। इस तरह वातावरण में नूतन जैसी अभिनेत्रियों ने भी नायिका के रोल करने के बजाय च अभिनेत्री के किरदार पेश करना ही उचित समझा। अतः नूतन की इसके बाद आ फ़िल्मों में उसके पुराने अभिनय का नज़ारा बहुत ही कम देखने को मिलता है **जागृति, मंदिर-मस्जिद, अंजाम, हमारा संसार, साजन की सहेली, सांझ क बेला, रिश्ता कागज़ का, यह कैसा फर्ज़, आरपार, पैसा यह पैसा, युद्ध रिक्की, हिफ़ाज़त** वगैरह ढेर सारी फ़िल्में आयीं और चली गयीं मगर किसी भी फ़िल्म में नूतन का नाम अभिनय के लिये रोशन नहीं हो पाया क्योंकि इनमें अभिन के लिये शायद ही कोई अवसर था।

लेकिन फिर भी उसे **मैं तुलसी तेरे आँगन की** (1978) तथा **मेरी जंग** (1985) फ़िल्मों के लिये फ़िल्म फ़ेअर का पुरस्कार मिला। मगर सोचने की बात यह है कि जिस ऐक्ट्रेस ने **सुजाता, बंदिनी, सीमा** जैसी फ़िल्मों में अभिनय करके यही पुरस्का किसी एक ज़माने में पाया था, उस पुरस्कार की बराबरी **मैं तुलसी तेरे आँग की** तथा **मेरी जंग** के रोल कर सकते हैं?

नूतन के इस काल में याने कि उसके अभिनय के आखरी दशक में एक औ अभूतपूर्व घटना ने जनम लिया। जब वह शुरु-शुरु में फ़िल्मों में काम करती थ तो एक बार अव्वल अभिनेता दिलीप कुमार के साथ काम करने के लिये उसे अनुबंधि किया गया था। यह बात थी करीब 1954-55 की। फ़िल्मकार प्रॉडक्शन्स के झं तले निर्देशक रमेश सैगल **शिकवा** नामक फ़िल्म नूतन तथा दिलीप कुमार के साथ बनाना चाहते थे। फ़िल्म शुरु हुई मगर पूरी नहीं हो पायी। अतः जितनी पूरी हो चुकी थी उसे फ़िल्म लेबोरेटरी के डिब्बे में ही बन्द करना पड़ा। सुपर स्टार दिलीप कुमार के साथ काम करने की नूतन की तमन्ना उस वक्त अधूरी ही रह गयी। आने वाले समय में भी दोनों को एक साथ काम करने का मौका कभी हासिल नहीं हुआ। यकायक बम्बई की फ़िल्म इंडस्ट्री में शबाब अहमद नामक एक शख़्स आया और उसके मस्तिष्क में एक अजब सा आइडिया आया। उसने जो फ़िल्में **शिकवा** की तरह बीच में ही बंद हो गयी थी उनके हक ले लिये और जितना काम हो गया था उसकी कॉपी बना ली और चरित्र अभिनेता प्राण को प्रमुख भूमिका देकर उसने इन ढेर सारी अधूरी फ़िल्मों के भाग बड़ी कुशलता के साथ इस फ़िल्म में शामिल किये और उसे प्रदर्शित किया। इस फ़िल्म में राजकपूर-मधुबाला की **बहुरुपिया** किशोर साहू द्वारा निर्देशित **नया मंदिर**, अमिताभ बच्चन, उत्तम कुमार, प्राण द्वारा अभिनीत **खुदा गवाह**, शंकर-जयकिशन की संगीतबद्ध की गयी तथा देवआनंद-साधना अभिनीत की हुई **साजन की गलियाँ**, निर्देशक के. आसिफ़ की **सस्ता खून महँगा पानी**, गुरुदत्त-साधना स्टारर **पिकनिक** तथा अन्य और भी कई फ़िल्मों के पुर्ज़ों का समावेश था। संगीतकार अनिल विश्वास के संगीत से सजी हुई **शिकवा** जिसमें दिलीप कुमार तथा नूतन पहली बार पर्दे पर अपने अभिनय का करिश्मा दिखाने वाले थे, उसके कुछ भागों को भी इसमें शामिल किया था। इस जोड़ी ने पहली बार चंदेरी

पर्दे पर एक साथ काम सन् 1954-55 में चालू किया मगर दर्शकों को उनको देखने का अवसर मिला सन् 1983 में जब **फ़िल्म ही फ़िल्म** प्रदर्शित हुई। नायक-नायिका के रूप में नूतन-दिलीप का यह पहला और आखरी दर्शन था। दुर्भाग्यवश, शबाब अहमद का यह प्रयास सफ़ल नहीं रहा और ज़्यादातर लोगों ने यह फ़िल्म देखी ही नहीं।

मगर जाने-माने निर्देशक सुभाष घई इस कमी को पूरा किया। 1986 में उनकी **कर्मा** प्रदर्शित हो गयी जिसमें दिलीप कुमार और नूतन के अलावा अनिल कपूर, जैकी श्रॉफ, नसीरूद्दीन शाह, श्री देवी, पूनम ढिल्लो, अनुपम खेर, दारा सिंह, बिंदू जैसे सितारे भी मौज़ूद थे। इस फ़िल्म में दिलीप कुमार तथा नूतन हीरो-हीरोइन का किरदार नहीं कर रहे थे यह लिखने की ज़रूरत भी नहीं पड़ेगी क्योंकि दोनों की आयु भी काफ़ी बढ़ गयी थी। महत्वपूर्ण बात सिर्फ़ यही है कि ये दोनों चोटी के कलाकार सिर्फ़ एक ही बार एक साथ आये। शायद नूतन के दिल की तमन्ना इस फ़िल्म के प्रदर्शन के पश्चात् पूरी हो गयी होगी।

सन् 1950 से 1990 तक चालीस साल में नूतन ने करीब नब्बे फ़िल्मों में काम किया। इनमें कई फ़िल्में सफ़ल रही। इन फ़िल्मों के जरिये नूतन ने अक्सर अपनी अभिनय कला का अलग आविष्कार दर्शकों को पेश किया।

अभिनेत्री नूतन ने जब फ़िल्म जगत में पदार्पण किया उस वक्त फ़िल्मों में नर्गिस, सुरैया, मुनव्वर सुलताना, मीनाकुमारी, मधुबाला, निगार सुलताना, नलिनी जयवंत, गीताबाली, निरुपारॉय, कामिनी कौशल, रेहाना, निम्मी जैसी लाजवाब नायिकायें मौजूद थी और हर एक ने अपने अलग-अलग ढंग के अभिनय से दर्शकों को मोहित कर रखा था। इतनी बड़ी-बड़ी कलाकारों के सामने नूतन का फ़िल्मों में दाखिल होना तथा इन कलाकारों के साथ चुनौती लेकर अपना अलग स्थान बसा लेना कोई साधारण बात नहीं थी। नूतन ने धीरे-धीरे यह सब कर दिखाया और उसमें सफ़लता पायी। इसलिये हिंदी फ़िल्मजगत में उसका स्थान हमेशा के लिये असाधारण ही रहेगा।

मानव मर्त्य है। एक न एक दिन सभी को मरना ही है। मगर अपने जीवन में मानव जो कुछ काम करके दिखाता है उसका ज़िक्र उसकी मृत्यु के पश्चात् भी हो जाता है। नूतन के बारे में तो यह बात साफ़ ज़ाहिर होती है कि उसने अपने फ़िल्म संसार में जो कुछ करके दिखाया, अभिनय की उच्चतम बुलंदियाँ अपनायीं. **सीमा, बंदिनी, सुजाता, सोने की चिड़िया, सरस्वतीचन्द्र, मिलन** जैसी फ़िल्मों को अपने अभिनय से ऊपर उठाया, यह देखकर आज भी संतोष होता है। साँवली तथा सुहावनी नूतन का चेहरा देखते ही आज भी मन खिल उठता है। उनकी मृत्यु के थोड़े ही पहले उन्होंने दूरदर्शन के धारावाहिक **मुज़रिम हाज़िर** में कालीगंज की बहू की भूमिका खूब अच्छी तरह निभायी। दर्शकों के लिये यह था उनका कला का आखिरी दर्शन। केंसर जैसी बीमारी के साथ झगड़ते-झगड़ते उन्होंने यह भूमिका निभायी और दर्शकों से फ़िर एक बार प्रशंसा प्राप्त की।

नूतन की मृत्यु सारे फ़िल्म जगत को तथा उनके चाहने वालों को गहरा सदमा पहुँचाने वाली बात थी। वह एक ऐसी अभिनेत्री थीं जो भारतीय चलचित्र के



स्वर्गयुग काल से अपना रिश्ता जतलाती थी। उनकी मृत्यु से ऊपर नायिका की श्रृंखला अब समाप्त हो गयी। नूतन उन बड़ी-बड़ी, मोहमयी तथा सम्मोहित करने वाली नायिकाओं का आखरी सितारा थीं। उनके देहान्त से भारतीय सिने संसार को बड़ी हानि पहुँची है, इसमें कोई संदेह ही नहीं है।



अभिनेत्री नूतन

पूरा नाम — नूतन कुमारसेन समर्थ
पिता का नाम — कुमारसेन समर्थ
माता का नाम — शोभना समर्थ
जन्म — 4 जून, 1936
शिक्षा — जूनियर केम्ब्रिज़, बाल्डबीन हाईस्कूल बंगलौर
मातृभाषा — मराठी
शादी — अक्टूबर, 1959
पति का नाम — कर्नल रजनीश बहल
पुत्र — मोहनीश बहल
मृत्यु — कैंसर से 21 फरवरी, 1990 को



चित्रसम्पदा— हिन्दी/मराठी

हिन्दी

बालकलाकार

क्र.	सन्	फ़िल्म
(1)	1945	नल दमयंती
नायिका/चरित्र अभिनेत्री		
(2)	1950	हमारी बेटी
(3)	1951	नगीना
(4)	"	हमलोग
(5)	1952	शीशम
(6)	"	निर्मोही
(7)	"	हंगामा
(8)	"	पर्बत
(9)	1953	मालकिन
(10)	"	आग़ोश
(11)	"	लैला-मजनू
(12)	1954	शबाब
(13)	1955	सीमा
(14)	1956	हीर
(15)	1957	बारिश



(16)	"	पेइंग गेस्ट
(17)	"	चंदन
(18)	"	आख़री दाव
(19)	"	दिल्ली का ठग
(20)	"	कभी अंधेरा कभी उजाला
(21)	"	सोने की चिड़िया
(22)	"	लाइट हाऊस
(23)	1958	जिंदगी या तूफ़ान
(24)	1959	अनाड़ी
(25)	"	कन्हैया
(26)	"	सुजाता
(27)	1960	छबीली
(28)	"	छलिया
(29)	"	बसंत
(30)	"	मंज़िल
(31)	1962	सूरत और सीरत
(32)	1963	दिल ही तो है
(33)	"	तेरे घर के सामने
(34)	"	बंदिनी
(35)	1964	चाँदी की दीवार
(36)	1965	रिश्ते-नाते
(37)	"	खानदान
(38)	1966	दिल ने फिर याद किया
(39)	"	छोटा भाई
(40)	"	दुल्हन एक रात की
(41)	1967	लाट साहब
(42)	"	मेहरबान
(43)	"	मिलन
(44)	"	मेरा मुन्ना
(45)	1968	गौरी
(46)	"	सरस्वतीचंद्र
(47)	1969	भाई बहन
(48)	1970	माँ और ममता
(49)	"	देवी
(50)	"	यादगार
(51)	"	महाराजा
(52)	1971	लगन
(53)	1972	अनुराग
(54)	"	मंगेतर
(55)	1973	ग्रहण
(56)	"	सौदागर
(57)	1976	जिनी और जानी
(58)	"	ज़िद
(59)	1977	दुनियादारी
(60)	"	जागृति
(61)	"	मंदिर मस्ज़िद

मराठी

(62)	1977	पारध
(63)	1978	एक बाप छः बेटे









(64)	"	हमारा संसार
(65)	"	अंजाम
(66)	"	मैं तुलसी तेरे आँगन की
(67)	"	साजन बिना सुहागन
(68)	1980	कस्तूरी
(69)	1981	साँझ की वेला
(70)	"	साजन की सहेली
(71)	1982	जियो और जीने दो
(72)	"	तेरी माँग सितारों से भर दूँ
(73)	1983	रिश्ता कागज़ का
(74)	1984	फ़िल्म ही फ़िल्म
(75)	"	यह कैसा फ़र्ज़
(76)	1985	मेरी जंग
(77)	"	आरपार
(78)	"	युद्ध
(79)	"	मयूरी
(80)	"	पैसा यह पैसा
(81)	1986	कर्मा
(82)	"	नाम
(83)	"	रिक्की
(84)	"	प्यारी भाभी
(85)	1987	हिफ़ाज़त
(86)	1989	गुरु
(87)	"	मुज़रिम
(88)		कानून अपना अपना
(89)	1990	औलाद की ख़ातिर

दूरदर्शन धारावाहिक हिन्दी

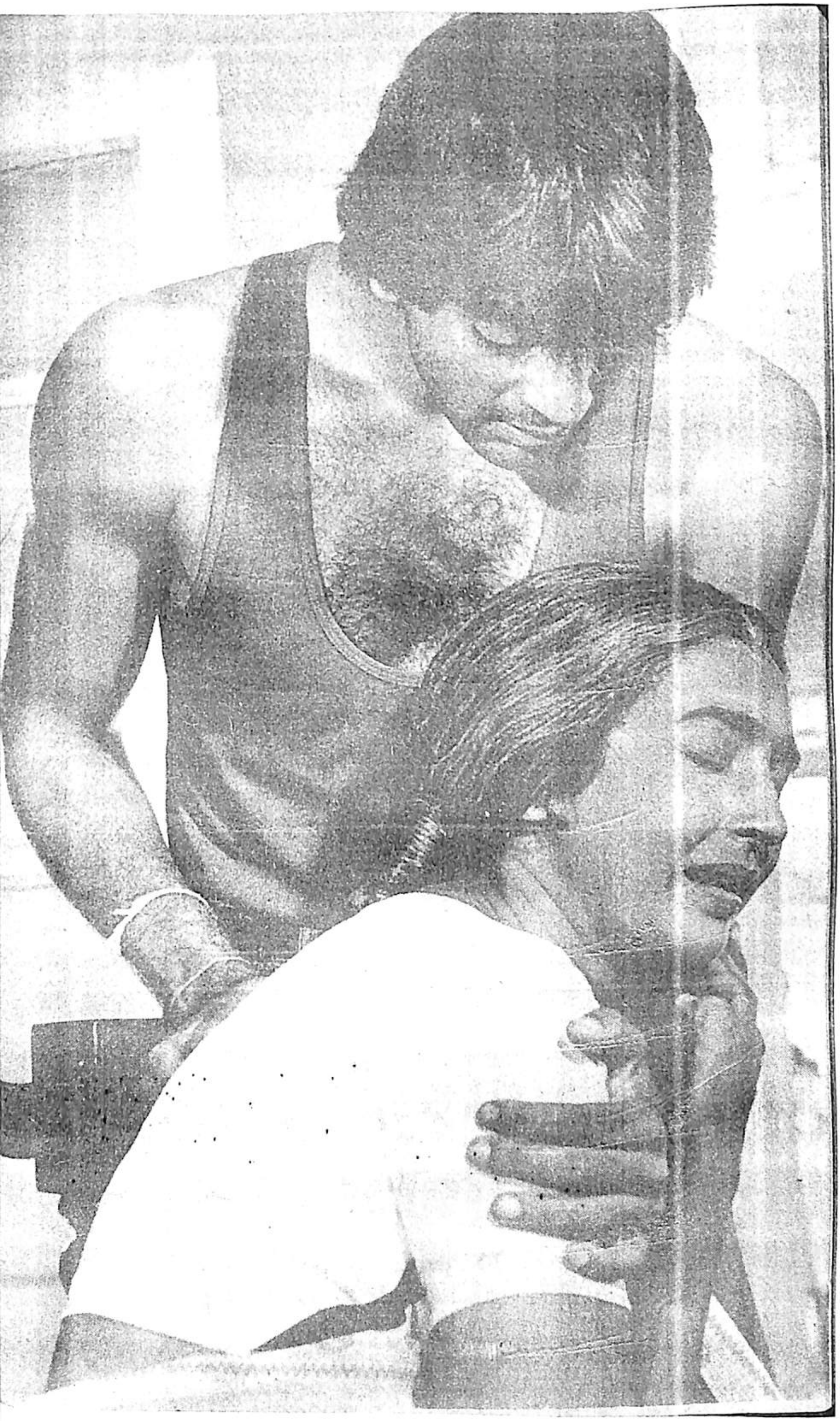
(90)	1990	मुज़रिम हाजिर





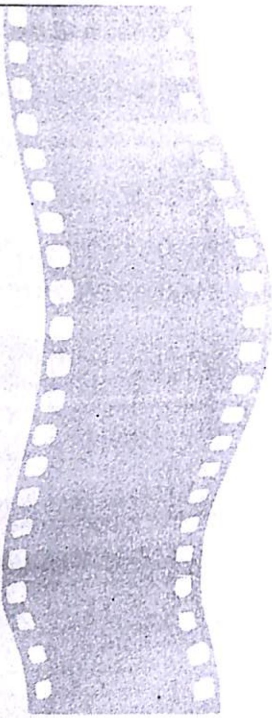






नूतन

फ़िरोज़ रंगूनवाला



नूतन का देहांत फ़िल्म कला के लिए और फ़िल्म उद्योग के लिए भी एक बहुत बड़ी कमी छोड़ गया जो शायद कभी न भर पाएगी। यह अपने-आपमें एक अजीबो-ग़रीब और आश्चर्यजनक मत है कि दोनों क्षेत्रों को नूतन अनाथ छोड़ गयी। बहुत ही कम ऐसे फ़नकार हैं, जो अभिनय को भी एक नया रूतबा देते हैं और साथ-साथ सितारे की हैसियत से उद्योग के व्यापारिक पहलू को भी भरापूरा रखते हैं।

नूतन ने अपने आरंभ के और संघर्ष के दिनों में जो शिक्षा पायी और हिन्दी फ़िल्म उद्योग के पेचीदा ताने-बाने को परखने की सूझ-बूझ प्राप्त की, वे उनके जीवन के आख़िरी मोड़ तक काम आयी। ऐसे कलाकार आजकल कहाँ जन्म लेते हैं, जो काम को पूजा समझें, जो अपने पात्र को जीवित कर दिखाने के लिये हर संभव प्रयत्न करें, जो अपने केरियर के हर मोड़ पर सोच समझ कर सही निश्चय करें और 40 बरसों तक अपने चाहने वालों और कद्र करने वालों की संख्या बरकरार रखें। इसीलिए नूतन के स्वर्गवासी होने पर दर्शकों, आलोचकों और उद्योगवालों की जो प्रतिक्रियायें हुई वे गजब की थी।

एक तरफ़ तो नूतन की अदाकारी की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी तो दूसरी तरफ उनकी सुन्दरता, चमक-दमक और स्टार-वेल्यू पर हज़ारों शब्द कहे और लिखे गये। नूतन ने अपने अभिनय से कुछ फ़िल्मों को लाजवाब और अमर बना दिया, जो बरसों तक देखी और सराही जायेंगी। वे हर तरह की व्यापारी फ़िल्मों में दर्जनों किस्म के पात्रों में वह इस तरह चमकीं कि आम जनता के दिलों पर छा गयीं। ये फ़िल्में भी आने-वाले दशकों में कई पुराने-नये दर्शकों को मनोरंजन देती रहेंगी।

नूतन ने अपने आपको कभी ऐसा महान कलाकार नहीं समझा जो अपना अभिनय कला-फ़िल्मों तक सीमित रखते हैं। एक मशहूर लोकप्रिय सितारे के रूप में उन्होंने कभी 'कला का दामन भी नहीं छोड़ा। नीरस और बेमतलब पात्रों में भी वह जान डालती रहीं और फ़िल्म पर अपनी अमिट छाप छोड़ती रहीं। उन्होंने बंबई के फ़िल्म उद्योग की प्रणाली को गौर से समझ लिया था। अगर फ़िल्में चुनने और मंजूर करने में अत्यधिक सावधानी दिखायी तो कलाकार बिना काम के घर पर ही बैठा रहेगा। न शोहरत होगी, न दौलत और कुछ ही अरसे में सितारे का दर्ज़ा भी न रहेगा। इसीलिए जो भी साधारण तौर पर अच्छे प्रस्ताव हों उनको स्वीकार कर लेने में ही अक्लमंदी होगी। हाँ, इनमें घटिया और स्तर से गिरी हुई फ़िल्में छाँट कर अलग की जा सकती हैं।

हिन्दी सिनेमा के 80 साल के जड़ ढाँचे में ऐसा भी वक़्त और मौका आता है, जब अच्छे निर्माता, निर्देशक और लेखक कुछ नये और अछूते ढंग की फ़िल्में बनाने की हिम्मत करते हैं, फिर चाहे उनमें नुकसान हो या नफ़ा। ऐसे मौके जब भी नूतन के सामने आये तो उन्होंने उनको कभी नहीं छोड़ा। तब बाहर चमकता हुआ सितारा दब गया और अंदर का कलाकार उभर आया। वे पात्र बड़े सीधे सादे थे, न मैकअप की चमक और न चमकीले-भड़कीले कपड़े या बालों की सजावट। कुछ तो बाकायदा बदसूरत-काले भी थे।

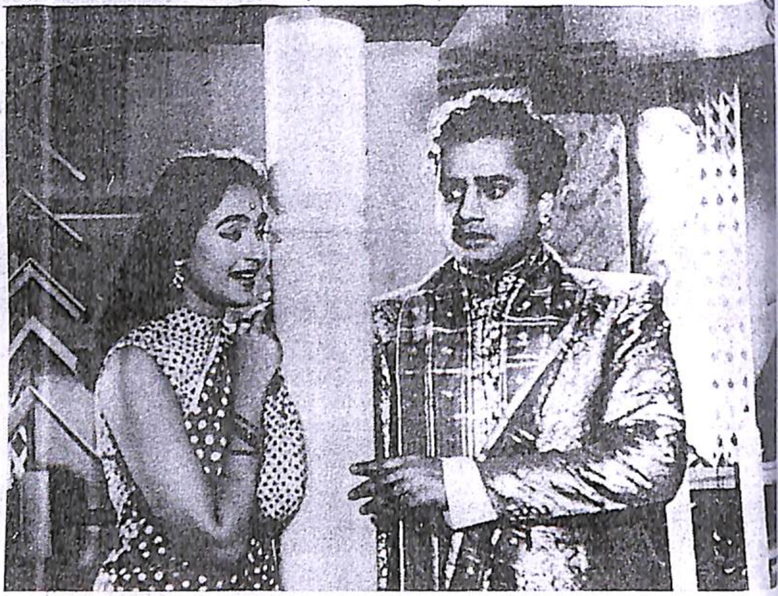
नूतन ने इनको निभाये, बखूबी अंजाम दिये, और ये ही चरित्र और कृतियाँ सदा-बहार बन कर रही हैं। उनके कैरियर के पहले दौर में ही रणजीत कंपनी की और ज़िया सरहदी की समाजवादी इन्क़लाबी **हम लोग** आई। नूतन का पात्र, तपेदिक (टी.बी.) से पीड़ित दुबली-पतली, मायूस, निराशावादी लड़की का था। मध्यम वर्ग को मौजूदा सिस्टम में जो आर्थिक रोग लगा था उसकी यह प्रतीक थी। इसलिए फ़िल्म का केन्द्र बिन्दु बन गईं। हालाँकि आमतौर पर मानी जाने वाली हीरोइन श्यामा थी... खुबसूरत, चुलबुली, हँसती, गाती, नाचती और मुख्य पात्र बलराज साहनी की प्रियतमा। पर वास्तविकता का सारा श्रेय नूतन ले गयीं।

हम लोग में वह बलराज की बहन बनी थीं और उसको मन ही मन प्यार करने वाला अदाकार था सज्जन। उन सबका वह क्रांतिकारी गाना आज भी कानों में गूँज रहा है : **गाये चला जा गाये चला जा, एक दिन तेरा भी ज़माना आयेगा।** इसके बाद नूतन की राह में जो मील का पत्थर आया वह थी अमिय चक्रवर्ती की फ़िल्म **सीमा**। इस बीच वह कुछ मनोरंजक, बेढंगी और चमकीली फ़िल्मों में हीरोइन रह चुकी थीं, सफ़ल भी थी। पर *इमेज* का भूत उन्होंने सिर पर सवार होने नहीं दिया। बल्कि फ़िल्म और निर्देशक का महत्व और गुण समझकर नया रुख़ अपनाया।

ग्लैमर तो एक तरफ रहा, उन्होंने न तो अच्छी साड़ियाँ पहनने का तकाज़ा किया, न तो खूबसूरत दिखने का सामान चोरी से मैकअप के कमरे में रखा। बस जैसा पात्र था वैसी बन गयीं मामूली सी मध्यम वर्ग की, समाज की ठुकराई हुई, अंदर ही अंदर आग खाती हुई, नाराज़गी और क्रोध से भरी, एक चोरी-की सजावट वाली, नये किस्म की हीरोइन। फिर भी इस **छोटी सी गुड़िया की लंबी कहानी** सुनने

के लिए लोग उमड़ पड़े और फ़िल्म 25 सप्ताह चली। अभिनय में उनका मुकाबला करने स्वयं बलराज साहनी इस बार हीरो बनकर आये। नये किस्म का हीरो, जो आश्रम चलाने वाला एक सीधा-सादा, नेक-दिल पर आदर्श नियम का पाबंद, पुख़्ता उम्र का आदमी था। उसी के प्यार और हमदर्दी से लड़की में परिवर्तन आता है और वह ज़िंदगी को सही नज़र से देखने लगती है, बेशक काफ़ी टकराव और संघर्ष के बाद नायिका में मनोवैज्ञानिक बदलाव आना भी एक नयी बात थी और नूतन ने इसे खूब विकसित किया।

कुछ व्यावसायिक फ़िल्में आईं, जिनमें नूतन के पात्र कुछ हद तक अनोखे से थे, जैसे देवआनंद के साथ **बारिश** और राजकपूर के साथ **अनाड़ी** और **छलिया**। नूतन के व्यक्तित्व में कुछ ऐसा था कि मामूली चीज़ को भी वह गैर-मामूली करके दिखाती थीं। उनके अभिनय में एक कशिश थी, जो फ़िल्म देखने के बाद भी याद



आती रहती थी। वह अपने साधारण पात्र में भी कुछ नये ढंग भर देती थीं। अगर नूतन ने व्ही. शांताराम, हिमांशु राय, पी.सी. बरूआ, नितिन बोस, मेहबू खान, देवकी बोस, सोहराब मोदी और गुरुदत्त जैसे फ़िल्मकारों के साथ कुछ अनूठ फ़िल्में की होतीं, तो फ़िल्म इतिहास में कुछ सुनहरे पन्ने जुड़ जाते। हाँ, वैसे अमि चक्रवर्ती बॉम्बे टॉकीज की ही देन थे। नूतन का सबसे सुखद अरसा औ कला का निखार बिमल राय के साथ हुआ जो न्यू थिएटर्स जैसी महान संस्था क विरासत लेकर बंबई आये थे। यह जुगलबन्दी **सुजाता** में सामने आई। काश कि नूतन ने **दो बीघा ज़मीन, परिणीता, बिराज बहू** जैसी फिल्मों में काम किया होत जब बिमल राय की सृजन शक्ति भी चरमसीमा पर थी। **दुनिया न माने, अछूत कन्या, आदमी, पड़ोसी, देवदास, विद्यापति** आदि की तो हम बात ही नहीं क

सकते क्योंकि नूतन का कलात्मक जन्म तब नहीं हुआ था। इस बीच शाहिद लतीफ़ और इस्मत चुग़ताई के दिमाग से निकली **सोने की चिड़िया** भी आई। यह एक फ़िल्म अभिनेत्री की मार्मिक और अर्ध-वास्तविक कहानी थी। कहा गया है कि उस ज़माने की एक चोटी की अदाकारा के निजी जीवन से इसकी प्रेरणा मिली थी। किस तरह वह दिन-रात शूटिंग में जानलेवा मेहनत करती है, जिससे उसके माँ, भाई आदि ऐश कर सकें और बेतुकी फ़िल्में भी बनाते रहे, कैसे वह खुद पैसे-पैसे की मोहताज थी, अपने अरमानों को पूरा नहीं कर सकी, अपने प्रेम में असफल रही क्योंकि उसका प्रेमी जो एक सफ़ल हीरो था वह अपनी पत्नी को छोड़ने को तैयार नहीं था, कैसे वह अक्सर बीमार-बेहोश होती थी आदि। यह पात्रनूतन के हिस्से में आया।

हालाँकि फ़िल्म इतनी बढ़िया और पुरअसर नहीं बनी। कुछ हिचकिचाहट भी थी, वास्तविक पात्र के बहुत नज़दीक जाने में। फिर बॉक्स-आफिस के भी कुछ तकाज़े और दबाव थे। फिर भी नूतन ने एक संवेदनशील चरित्र का सच्चाई से चित्रण किया। खुद इस अभिनेत्री की वेदना महसूस की और उभार कर दिखाई। उसको धोखा देने वाला प्रेमी हीरो बना था तलत मेहमूद और उसको आश्रय सांत्वना देने के लिये फिर बलराज साहनी थे। इस फ़िल्म में भी नूतन का अभिनय ग़ौर करने के क़ाबिल है।



सुजाता की तो बात ही कुछ और थी। बिमल राय एक नये ढंग की अछूती प्रस्तुति करना चाहते थे। मध्यमवर्गी परिवार में सुख से पली-बसी बेटी जैसी ही (बेटी नहीं) हर तरह से सुशील और काबिल, फिर भी अछूत ही। जैसे छूत-अछूत की एक अदृश्य चादर उसके ऊपर गिरी हुई थी। नूतन ने इस पात्र को भाँप लिया, उसकी सूक्ष्म भावनाएँ समझ ली। वह काली-कलूटी, सहमी-सी, दबी-दबी सी एक ऐसी लड़की बन गई जो फ़िल्म इतिहास में एक अमर पात्र बनकर रह गया है। बिमल राय की विचार-धारा गहरी थी। हम *अछूत* को अपनों की तरह रखकर लालन-पालन परवरिश कर सकते हैं। लेकिन हमारे दिल और दिमाग में तो वह अछूत ही रहती है। वह घर की हर चीज़ को छू सकती है, लेकिन ऊँची जाति की मानसिक पाबंदी को नहीं हिला सकती। और जब परिवार पर बन आती है, उन्हीं की असली लड़की का होने वाला पति सुजाता की ओर खिंचा चला जाता

है तब यह दीवार और भी सख़्त हो जाती है। सुजाता में ऐसे कई दृश्य हैं, जिनमें कोई दूसरी साधारण अभिनेत्री होती तो मजबूर हो जाती और रिवायती अभिनय के सिवा कुछ नहीं कर पाती। पर नूतन ने गहरा अध्ययन किया और फिर बिमलरॉय हर कदम पर अपनी *नोतुन* को राह दिखाते रहे। इसी तरह बनती है ऊँची कोटि की फ़िल्में। सुजाता का पात्र ऐसा था कि सदियों का दुख, ज़ुल्म और अन्याय एक अनदेखा बोझ बनकर उस पर हावी था। कानून और संविधान के सारे साधनों से यह समस्या नहीं सुलझ सकती। इसके लिये चाहिये प्रेम, त्याग और अपने अस्तित्व को कायम रखने का मज़बूत इरादा। उसे एक पूरे सिस्टम से लड़ना है, लेकिन नारे लगाकर, झंडा उठाकर या आन्दोलन करके नहीं। केवल शांति, प्रेम और अपने आपको मिटाने की अहिंसक भावना से। इसमें वह सफ़ल होती है और अपनी मनचाही मंजिल भी उसे मिलती है। इसमें सुनील दत्त का अभिनय भी ऊँचे दरज़े



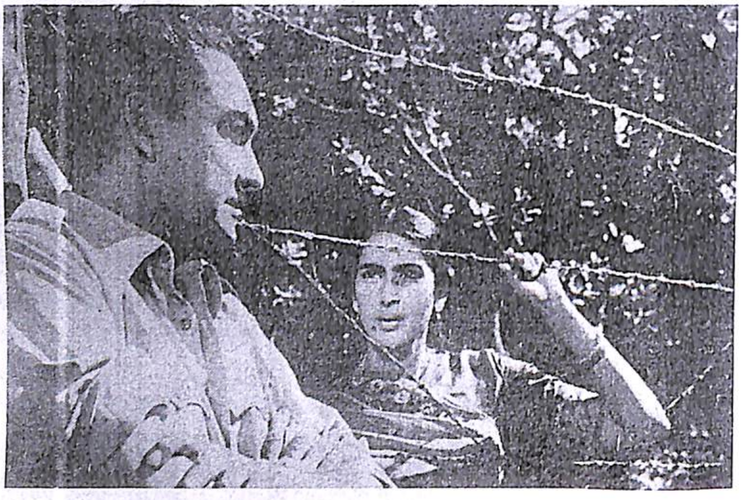
का रहा। **सुजाता** को देश-विदेश में प्रशंसा प्राप्त हुई। बाहरी बदसूरती और अंदरूनी खूबसूरती का एक और चरित्र आया **सूरत और सीरत** में। नूतन की माताजी शोभना समर्थ ने फिर निर्माण में हाथ डालकर, उसके पति रजनीश बहल को निर्देशन का श्रेय भी दिलवाया। धर्मेन्द्र के साथ बनी यह फ़िल्म बहुत खूबियाँ लिए हुई थी। नूतन की अदाकारी बेशक इसका मुख्य अंग थी। एक काली, सादी, कुरूप सी लड़की जिसे एक अंधा नौजवान प्यार करता है, सिर्फ़ उसकी आवाज़, गुण और अच्छे बर्ताव से। लेकिन वह शारीरिक सुन्दरता का दीवाना है और इसलिये जब आँखें खुलती है तब तूफान आता है। लेकिन फ़िल्म का विषय गंभीर था और आम लोगों की समझ के बाहर। मनोरंजन का रिवायती मसाला भी नहीं। फ़िल्म बुरी तरह असफल रही और नूतन के परिवार का प्रयत्न बेकार गया।

आखिर बिमल राय के ही साथ नूतन की कला अपनी बुलंदी पर पहुँची। बतौर नायिका यह करीब-करीब उसकी आख़िरी फ़िल्म थी और राय के निर्देशन का भी अंतिम चरण **बंदिनी**। फिर वही बंगाली पसमंजर-उपन्यास को लेकर बनी एक भावनात्मक कृति थी जिसको मध्यमवर्ग के ज्ञानी-दिमाग़ी लोगों ने बहुत पसंद किया। वैसे इस दर्शक वर्ग की समाप्ति भी इन्हीं कालों में आरंभ हुई। इस फ़िल्म में नूतन के पात्र के विविध पहलू थे। पहले तो एक भोली-भाली सुन्दर सी ग्राम्य-कन्या, जो एक आज़ादी आन्दोलन के आतंकवादी से प्यार करने लगती है। मगर वह उसे छोड़कर चलाजाता है फिर ठुकराई हुई दुखी लड़की जिसको पता चलता है कि जिसको वह पति मान बैठी थी उसने किसी ओर से शादी कर ली है। इस सदमे से उसके पिता का देहांत होता है और गाँव में खलबली। अब उसके भाग्य में बनना है एक तूफ़ान घिरी नाव। इस मायूसी के माहौलको नूतन ने खूब उभारा। वह बनती है अस्पतांल की एंक कर्मचारी, जहाँ उसे एक बड़े ही नीच स्वभाव की औरत की सेवा करनी पड़ती है। उसे पता चलता है कि यह वही औरत है जिसने उसके प्रेमी और होने वाले पति से शादी कर ली है। अतः नूतन एक कठोर, डरावनी बन जाती है और मौका मिलने पर उस औरत को ज़हर दे देती है। नूतन का अगला रूप एक बंदिनी का है जो खून के आंरोप में सजा काट रही है। एक दयालु जेलर धीरे-धीरे उसकी कहानी उसकी कलम से निकलवाता है। जेल में फिर नूतन को प्रेमिका बनने का सौभाग्य-दुर्भाग्य प्राप्त होता है, जब वहाँ का नौजवान डॉक्टर उससे हमदर्दी-प्यार करने लगता है। सज़ा खत्म होने पर वह और उसके घरवाले फिर नूतन को दुल्हन बनाने की तैयारी करते हैं। लेकिन अब उसका आखिरी इम्तिहान आता है। उसकी मुलाकात अपने पहले पिया के साथ होती है जिसकी वह बंदिनी है। बीमार हालत में वह अपनी दुख और मजबूरी से भरी कहानी सुनाता है।

अब नायिका के सामने दो रास्ते हैं। रेल में डॉक्टर के साथ जाकर एक नयी ज़िंदगी बसर करना या जहाज़ में अपने असली प्रेमी-पति का साथ देकर बाकी जीवन उसकी सेवा में बिताना। यह कश्मकश और दुविधा का चित्रण नूतन ने अपने चेहरे की मुद्रा और शारीरिक भाषा (body language) से इतना उभरे ढंग से किया कि वे दृश्य आज भी भुलाये नहीं जाते। इस फ़िल्म से नूतन के ऊपर फिर तारीफ़ के फूल बरसने लगे, सम्मान और इनाम से वह घिर गई।

इसके बाद एक अर्ध-व्यावसायिक परंतु ऊँचे स्तर की फ़िल्म **मिलन** और फ़िर **सरस्वतीचंद्र** ने नूतन का *हीरोइन* वाला अध्याय समाप्त किया। गोविंद सरैया की, गुजराती महा-उपन्यास पर आधारित फ़िल्म **सरस्वतीचंद्र** ने फिर नूतन को वह मौका दिया जो बहुत कम अभिनेत्रियों को नसीब होता है। प्रेम और त्याग के फ़लसफ़े की इस कृति में नूतन ने अपने पात्र को चार चाँद लगाये। एक भोली-भाली सुंदरी, प्रेम का स्वस्थ्य अनुभव करने वाली प्रेमिका, फिर एक बदचलन आदमी की पत्नि और फिर सांसारिक बंधनों से ऊपर उठने वाली औरत, जो अपने प्रेमी को सही रास्ता दिखाती है।

एक बात रह जाती है जो आश्चर्य भी पैदा करती है और अफ़सोस भी वह यह कि नूतन को कलात्मक अभिनेत्री का ऊँचा स्थान या एवार्ड नहीं मिला। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर उनकी कद्र या सम्मान नहीं हुआ। वह संपूर्ण कला-फ़िल्म से वंचित रह गई। बंगाल या केरल के विश्व-विख्यात निर्देशकों ने उन्हें कभी नहीं बुलाया। कदाचित उनकी फ़िल्मों द्वारा नूतन को भारत के बाहर अग्रणी देशों में वह प्रशंसा सम्मान मिल पाता जिसके लिये वह जीवन भर तरसतीं रहीं। हाँ, उन्होंने दो कला-फ़िल्मों में काम करने की हिम्मत की। **कस्तूरी** और **ग्रहण** दोनों औसत दर्जे की अधकचरी फ़िल्में थी, जो विदेशों में मुश्किल से दिखायीं गयीं पर जिन्होंने कोई असर नहीं छोड़ा। नूतन ने जो झंडे गाड़े वे बंबई की बेहतर ।कस्म की फ़िल्मों तक सीमित रह गये, जिनमें फिर भी नाच-गाने-ड्रामा आदि रिवायती क़िस्म के थे।
ग़ौर से देखा जाये तो नूतन का फ़िल्मों में आगमन और शोहरत की सीढ़ियाँ चढ़ना,



इन सब कमज़ोरियों की बुनियाद पहले ही डाले हुए थे। 1950 में माँ शोभना समर्थ ने **हमारी बेटी** बनाकर नूतन को उद्योग को और दर्शकों को भेंट किया। यह एक चमक-दमक वाली व्यावसायिक फ़िल्म थी। फ़िल्म चली नहीं पर नूतन का भविष्य बना गयी। इसके बाद दलसुख पंचोली की **नगीना** आई। गीत, रोमांच, रहस्य के कारण सिल्वर जुबली हिट हो गई। नई हीरोइन भी बहुत पसंद की गई। नूतन स्टार बन गई और हमेशा हर फ़िल्म में वह पहले स्टार रही और फिर अभिनेत्री। क्योंकि उसके नाम पर अर्धव्यावसायिक और कला फ़िल्में बेची और देखी गई। बिमल राय जैसे निर्देशकों को छोड़कर वह फ़िल्मों पर ज़्यादा हावी रही। इसी कारण सत्यजीत राय, मृणाल सेन, अडूर गोपालकृष्णन, जी. अरविंदन, श्याम बेनेगल यहाँ तक कि गुरुदत्त ने भी उसे पसंद नहीं किया।

नूतन की कलात्मक फ़िल्में जिस मात्रा में थी उससे कई गुना उसकी कमर्शियल और बॉक्स-आफ़िस फ़िल्में थी। उन्होंने अपने ज़माने के सब लोकप्रिय नायकों के साथ सफ़ल फ़िल्मों में सफ़लताओं से काम किया। विदेश से तालीम और भरी-भूरी सुंदरता लेकर जब वह वापस आयीं (पहली तीन फ़िल्मों के बाद) तो उद्योग ने उनको गले लगा लिया और उन्होंने भी उद्योग के कलपुर्ज़ों को अच्छी तरह समझ लिया और हॉलीवुड की मशीनी सिस्टम में डूब सी गई। **मालकिन, हंगामा, पर्वत, निर्मोही, लाइट हाऊस** जैसी कई फ़िल्में आयीं और गयीं। कुछ गिनी-चुनी अच्छी भी थी जैसे कि **शबाब** जिसमें लुभावनी क्लासिकल धुनें थीं। ऊपरी स्तर की वह नायिका तव बनी जब देवआनंद के साथ **बारिश** और राजकपूर के साथ **अनाड़ी** खूब चली। दिलीप के साथ उनकी कोई फ़िल्म बन नहीं पायी और **शिकवा** अधूरी छोड़ दी गई। बरसों बाद सुभाष घई की **कर्मा** में दोनों कलाकार साथ-साथ चमके चरित्र कलाकार (माँ-बाप) बनकर। कुल मिलाकर नूतन ने लगभग 80 फ़िल्मों में काम किया जिनमें से बढ़िया स्तर की केवल 12-15 थीं। अन्य चलचित्रों में उन्होंने हर किस्म के हल्के-फुल्के, आशिकाना, शरारती, सेक्सी और नाटकीय पात्र निभाये। **दिल्ली का ठग में** उन्होंने पहली बार स्वीमिंग सूट पहना और अंग प्रदर्शन किया जो आज के हिसाब से तो बेशक कुछ भी नहीं था। लेकिन एक नया दौर हीरोइनों के लिये खुल गया, जिससे बाद में नायिकाओं ने बहुत फायदा उठाया। **लाट साहब** में उन्होंने शम्मीकपूर के साथ काफी प्रणय दृश्य किये, जैसे कि एक-दूसरे से लिपटकर एक छोटी पहाड़ी पर गिरते हुए नीचे आना। कुछ फ़िल्मों में उन्होंने स्वयं गाने गाये और बाकी फ़िल्मों से परदे पर गीत गाये और कई किस्म के नाच भी किये।

देवआनंद के साथ उनकी अच्छी ट्यूनिंग रही और **बारिश, पेइंगगेस्ट** आदि बहुत कामयाब रहीं। देव ने अपने बैनर की फ़िल्मों में भी उनको साइन किया और कुछ मज़ेदार फ़िल्में बनी जैसे कि **तेरे घर के सामने** राजकपूर के साथ **दिल ही तो है**। लेकिन आर.के. बैनर के लिये उनको नहीं बुलाया गया। एक विचित्र घटना हुई जो बहुत कम लोग जानते हैं। जब 1959 में नूतन ने रजनीश बहल से शादी की तो उन्होंने अचानक निश्चय किया कि फ़िल्मों को अलविदा कह देंगी।

कुछ दिनों तक उन्होंने फ़िल्में साइन करना छोड़ दिया और उस जमाने की एक मशहूर पत्रिका में अपना *इस्तीफा-नामा* इस प्रकार लिखा :

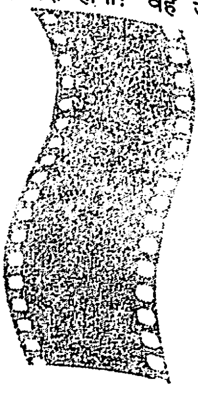
अब मैं एक समुद्री अफ़सर की पत्नी हूँ, अव मुझसे कारोबारी काम नहीं किया जायेगा। फ़िर मैं पुराने ख़्यालात की हूँ और यह मानती हूँ कि एक औरत की सही जगह उसका घर है। फ़िल्मी दुनिया में मैंने जो साल बिताये, उनमें मैंने बहुत से घरों को इसी कारण उजड़ते देखा। आप या तो एक अच्छी फ़िल्म स्टार बन सकती हैं या एक अच्छी गृहिणी। मैं फ़िल्म जगत से दूर जा रही हूँ पर मैं हमेशा इसके नज़दीक रहूँगी। मैं अपने दोस्तों को, सह-कलाकारों को और आलोचकों को गुडबाय कहती हूँ। मुझे आशा है कि वे सब लोग कम से कम मुझे "हलो" कहते रहें और मुझसे किनारा नहीं करेंगे क्योंकि मैं फ़िल्मों से बाहर जा चुकी हूँ।

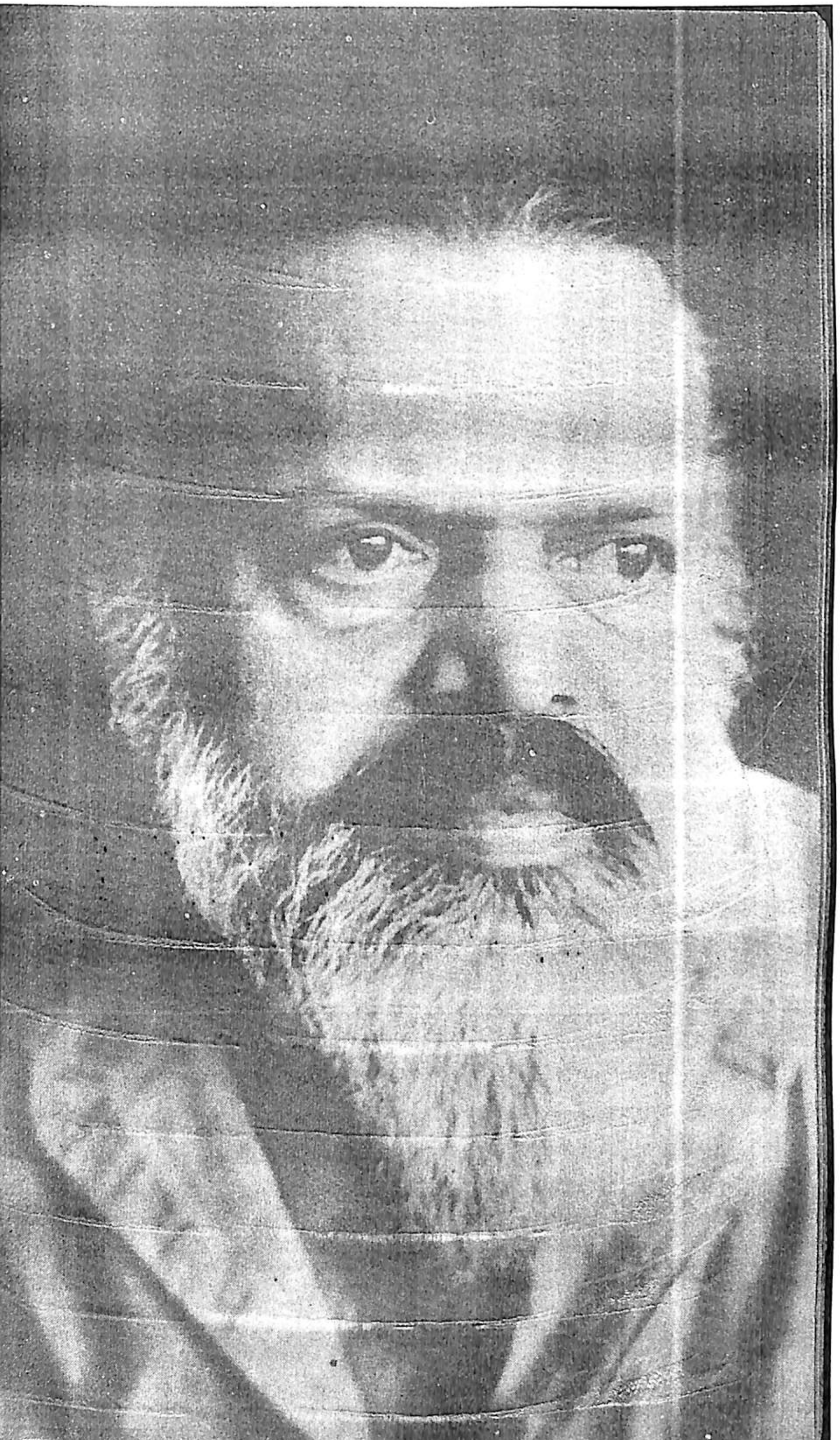
इसके बाद 30 बरसों तक नूतन ने दर्जनों फ़िल्मों में काम किया और काफ़ी सम्मान

और फ़ैन-मैग़ज़ीन जैसे एवार्ड भी जीते। तो क्या यह त्याग देने की धमकी केवल एक भावनात्मक उबाल था–या नई फ़िल्में प्राप्त करने का एक अच्छा तरीका? नायिका के दौर के बाद, नूतन ने आसानी से हार नहीं मानी। वह माँ-मौसी-चाची के गिरोह में बंद नहीं होना चाहती थी। उन्होंने केन्द्रीय पात्र के लिए ज़ोर दिया, अपने आपको स्टेज-शो आदि में एक नवयौवना की इमेज देने की कोशिश की, यहाँ तक कि सहायक अभिनेत्री के कुछ एवार्ड ठुकरा दिये पर उम्र और शारीरिक परिवर्तन के आगे सबको झुकना पड़ता है। कुछ अरसे तक उनको महत्वपूर्ण केन्द्रीय भूमिकाएँ मिली, जिनमें मुख्य कलाकार नये या नीचे दरज़े के थे। उन्होंने ताराचन्द्र बड़जात्या की **सौदागर** की, जिसमें वह अमिताभ बच्चन की प्रेमिका तो बनी, लेकिन पुख्ता अनुभवी औरत जो एक सुंदर नयन लड़की पद्मा खन्ना के हाथों मात खा जाती है।

राज खोसला की **मैं तुलसी तेरे आँगन की** में भी उनका एक भव्य शक्तिमय पात्र था जो उन्होंने खूब निखारा। जवाब बीबी से बूढ़ी माँ तक का यह चरित्र अनोखा था। परंतु कड़वा सच तो यह था ही कि वह नायक विनोद खन्ना की माँ बनी थी। टी.वी. के लिये वह बरसों बाद मुश्किल से राज़ी हुई और धारावाहिक **मुज़रिम हाज़िर** में कालीगंज की बहू का उम्दा चरित्र निभाया। लेकिन इस तरह के दमदार पात्र फ़िल्मों में या टी.वी. पर कितने आ सकते हैं? हमारे उद्योग की यही कमज़ोरी रही है कि जब कोई कलाकार उम्र में बढ़ता है तो उसकी कला के निखार को उपयोग करने के बजाय, उसे चरित्र कलाकार बना दिया जाता है या फिर कूड़े के ढेर पर डाल दिया जाता है। नूतन यह अच्छी तरह जानती थी और इसलिए **मेरी जंग** या **कर्मा** जैसी कई फ़िल्में लगातार करती ही रहीं मरते दम तक। अब भी उनकी आनेवाली फ़िल्में बाकी हैं, जैसे कि **गर्जना**।

4 जून 1936 में जन्मीं नूतन को अभिनय और फ़िल्म कला की विरासत अपनी माँ शोभना समर्थ (उस जमाने की लोकप्रिय हीरोइन और सबसे मनपसंद परदे की सीता) और पिता कुमार सेन (निर्देशक और फ़िल्म विभागों के अध्यक्ष) और पारिवारिक दोस्त मोतीलाल (उस वक्त का लाड़ला मनचला हीरो) से मिली। 1949 में उन्होंने स्टूडियो में क़दम रखा और 50 बरसों तक फ़िल्मों पर छाई रहीं। 1989 में टी.वी. सीरियल करते वक़्त उनको छाती के केन्सर के पहले आसार नज़र आये। एक ऑपरेशन भी ख़ुफ़िया तौर पर कराया गया। पर दो ही सालों में वह अचानक रोग फिर उभरा और 21 फरवरी 1991 को भारत की एक महान अभिनेत्री को हमसे छीन कर ले गया। अब कोई नूतन क्या पैदा होगी? वह ज़माना ही गुज़र गया।

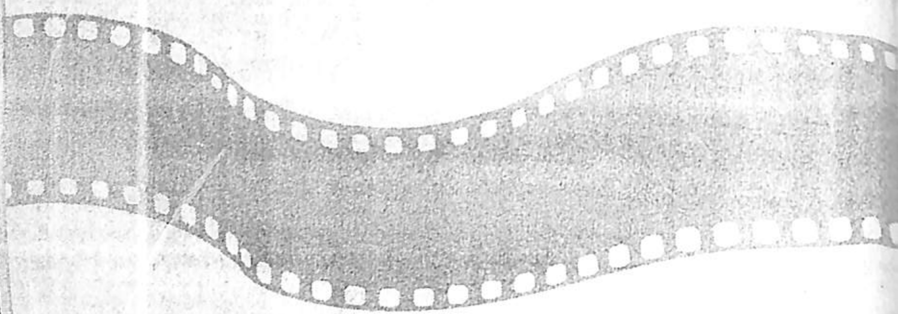




अरविन्दन की फ़िल्में:

एक बेहतर जीवन का सपना

विनोद भारद्वाज



आज़ादी के बाद के भारतीय सिनेमा में पचास और साठ के दशक में सत्य राय और ऋत्विक घटक की जो उपस्थिति थी उसने हमारे यहाँ के सिनेमा को अपनी भाषा और गरिमा प्रदान की। बाद में सत्तर और अस्सी के दशक में फ़ो वंगाल से केरल पर हो गया। अडूर गोपालकृष्णन और **जी. अरविंदन** ने भार सिनेमा को एक नया विस्तार दिया। कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि बंगाल अ केरल दोनों ही प्रदेशों में बौद्धिक-सांस्कृतिक चेतना का स्तर बेहतर रहा है और फ़िल्म सोसायटी आंदोलन की मज़बूत जड़ों के कारण सार्थक सिनेमा को दर्शकों समर्थन मिलता रहा है। इन फ़िल्मकारों ने अक्सर कम बजट में फ़िल्में **बनायीं** अपनी शर्तों पर फ़िल्में **बनायीं**। पर एक ख़ास बात यही थी कि थोड़ा ही सही दर्शकों का सहयोग इन्हें मिला।

वंगाल और केरल ने इस तरह से चार दशकों के भारतीय सिनेमा को *नियंत्रित* कि है। किसी क्षेत्र में दो बड़ी प्रतिभाएँ जब एक ही दौर में सक्रिय हों, तो अ युवा फ़िल्मकारों को भी उभरने का मौक़ा मिलता है।

स्व. अरविंदन इन चारों में अलग तरह के फ़िल्मकार थे। अक़सर उन्हें सिनेमा का *कवि*-पेंटर कहा जाता है। अरविंदन के लिए यह कहना सही भी है। पर मणि कौल को भी *कवि*-पेंटर कहा जा सकता है (अचानक नहीं है कि अरविंदन को मणि कौल की फ़िल्में पसंद थीं)। अरविंदन शायद इसलिए अधिक महत्वपूर्ण और प्रासंगिक हैं कि कवि-पेंटर होने के अलावा वे एक *विजनरी* भी हैं। कल्पना की अपनी ही दुनिया में रहने वाले एक स्वप्नदर्शी फ़िल्मकार। साहित्य, संगीत, रंगमंच, कला, दर्शन, संस्कृति से वे बहुत गहरे में जुड़े थे। बल्कि फ़िल्म कला को उन्होंने अपेक्षाकृत बहुत देर से अपनाया। और वे बाक़ायदा प्रशिक्षित भी नहीं थे। अच्छी फ़िल्में देखकर वे फ़िल्म कला की ओर अचानक आकर्षित हुए। लेकिन कुल दस कथा फ़िल्मों में अरविंदन ने फ़िल्म कला पर अपनी अद्‌भुत पकड़ को साबित किया। **थंपू** (1978), **पोक्कूवेड़ल** (1981), **इस्थपन्न** (1979-80), **चिदम्बरम** (1985), **ओरीदथ** (1986) **और वास्तुहारा** (1991) सरीखी फ़िल्में इस दौर की सिनेमाई उपलब्धियाँ हैं।

सत्यजीत राय और अडूर गोपालकृष्णन की फ़िल्म दृष्टि अधिक *संतुलित* और *तगड़ी* कही जा सकती है लेकिन अरविंदन का स्वप्नदृष्टा स्वभाव उन्हें बिल्कुल एक अलग जगह दे देता है। यह भारतीय सिनेमा का दुर्भाग्य ही कहा जायेगा कि अरविंदन जब *नैरेशन* में एक नयी पकड़ दिखा रहे थे, जब वे अधिक राजनीतिक हो रहे थे, तो उनकी मृत्यु हो गयी। **वास्तुहारा** उनकी आख़िरी फ़िल्म है और इसमें एक *मास्टरपीस* होने के सारे गुण मौजूद हैं। **चिदम्बरम** शायद अरविंदन की सबसे संपूर्ण और तराशी हुई फ़िल्म है। **वास्तुहारा** में उन्होंने एक नये सिनेमाई आत्मविश्वास का परिचय दिया है। विस्थापित मानसिकता की भीतरी गहराइयों का पूरा ध्यान रखते हुए उन्होंने बाहरी सच्चाई से भी जैसे पूरी मुठभेड़ की कोशिश की है।

चिदम्बरम अगर अरविंदन की सबसे संपूर्ण फ़िल्म लगती है, तो उनके स्वभाव के अनुकूल फ़िल्में **इस्थपन्न** और **पोक्कुवेड़ल** हैं। **पोक्कुवेड़ल** एक संवेदनशील युवक बालू की दुनिया में हमें ले जाती है। यह युवक धीरे-धीरे अपने आसपास से कट कर विक्षिप्तता के अँधेरे में जा रहा है। मानसिक अस्पताल से शुरू हुई यह फ़िल्म वहीं ख़त्म होती है। लेकिन इस बीच बालू का पिता, *प्रेमिका* महत्वाकांक्षी खिलाड़ी और एक क्रांतिकारी से संबंध और इन संबंधों की एक पूरी भूलभलैयाँ पर्दे पर आती है। बालू के भीतर एक कवि मौजूद है। इस कवि को पहचाना जा सकता है पर शायद इसका सामना करना, उसे स्वीकार करना समाज के लिए आसान नहीं है।

इस्थपन्न भी एक तरह से **पोक्कुवेड़ल** का ही विस्तार है। समुद्र से हम **स्टीफ़ेन** को आता हुआ देखते हैं। अंत में वह समुद्र की ओर ही जा रहा है। **स्टीफ़ेन** के होने, न होने के बारे में कई कहानियाँ प्रचलित हैं। वह मसीहा है, एक चमत्कार पुरुष है, एक चोर है, एक धूर्त है। वह सब कुछ होने का भ्रम पैदा कर सकता है। वह संत भी है और कवि भी है।

खुद अरविंदन बालू और **स्टीफ़ेन** के नज़दीक हैं। ये दो पात्र उनके प्रिय पात्र हैं। ये वास्तविक हैं और अवास्तविक भी। वे अपने आसपास से जुड़ने की कोशिश

ज़रूर करते हैं पर सफल होना उनकी नियति नहीं है।

थंपू और **ओरीदथ** दोनों ही गाँव की कहाँनियाँ हैं। इनमें बालू और स्टीफेन जै केन्द्रीय चरित्र नहीं हैं। लेकिन जैसे बहुत से लोग अपनी सामूहिकता में अरविंद के 'लैंडस्केप' में खड़े हैं। सर्कस की दुनिया दूर के एक गाँव से जुड़ती है औ अलग होती है। एक गाँव में बिजली आने वाली है। दुनिया बदल जायेगी। प अरविंदन को पूरा भरोसा नहीं है कि दुनिया बेहतर ही होगी।

एक कलाकार के लिए शायद भरोसा करना आसान भी नहीं है।

रूसी फ़िल्मकार **आंद्रेई तारकोवस्की** *फ़िल्मकारों के फ़िल्मकार* कहे जाते हैं। दुनियाभ के फ़िल्मकार तारकोवस्की की फ़िल्मकला से प्रभावित रहे है। एक बार एक इंटरव्यू में अरविंदन ने कहा भी था कि बरसों से उन्होंने **सेक्रिफ़ाइस** (तारकोवस्की की आख़िरी फ़िल्म) जैसी कोई फ़िल्म नहीं देखी है और उन्हें तारकोवस्की की सभी फ़िल्में पसन्द हैं।

अरविंदन ने दरअसल अच्छे अर्थों में तारकोवस्की से सीखा है। अरविंदन और उनकी अनेक फ़िल्मों के कैमरा निर्देशक शाज़ी करुण (**पीरावी** के निर्देशक) के संयुक्त सिनेमा दृष्टि तारकोवस्की के बहुत निकट है। कोई आश्चर्य नहीं कि प्रकृति अरविंदन के यहाँ केन्द्रीय पात्र है। वही व्यक्ति को मुक्त करती है और वही सामूहिक मुक्ति का भी एक केन्द्रीय स्रोत है।

चिदम्बरम और **वास्तुहारा** दोनों में प्रकृति की इस शक्ति को देखा जा सकता है। **पोक्कुवेड़ल** और **इस्थपन्न** तो ख़ैर प्रकृति केंद्रित फ़िल्में हैं। पर **चिदम्बरम** और **वास्तुहारा** में एक पौधा या पेड़ या खेत या कोई दृश्य जब हिलता है, तो कहानी को जैसे एक *विज़नरी* विस्तार मिल जाता है।

चिदम्बरम में तीन पात्र हैं और चौथी चीज़ है प्रकृति। एक सुंदर दुनिया हमें जैसे सम्मोहित कर रही है। सुपरिंटेंडेंट शंकरन फ़ॉर्म के छोटे कर्मचारी मुनियांदी की पत्नी शिवकायी के प्रति आकर्षित है। अपनी पत्नी के विश्वासघात को मुनियांदी सहन नहीं कर पाता। वह अपनी पत्नी की हत्या कर देता है और स्वयं आत्म हत्या कर लेता है। जीवित बचा रह जाता है शंकरन। अपनी अपराध भावना के अंधेरे में चीज़ों को पहचानने की वह सिर्फ़ कोशिश कर सकता है।

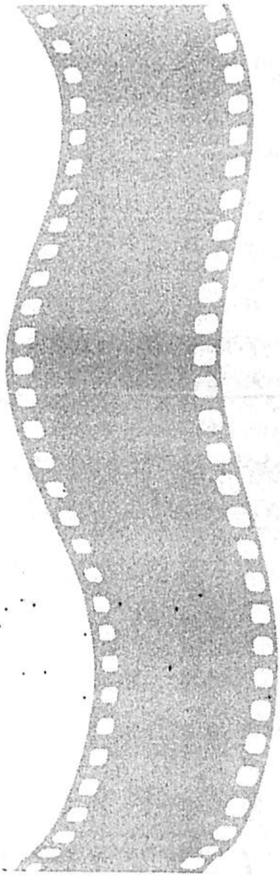
अरविंदन का व्यक्तित्व भी बहुत शांत था। बहुत धीरे बोलना उनकी ख़ास पहचान थी। उनकी फ़िल्में भी बहुत धीरे बोलती हैं। **चिदम्बरम** की कहानी में पर स्त्री गमन, हत्या, आत्महत्या, सब कुछ है। पर फ़िल्म एक जादुई लोक के आकर्षण के बाद एक वर्जित प्रदेश में प्रवेश के मोह और फिर उसकी वज़ह से पैदा हुई अपराधभावना को जानने-जाँचने की कोशिश करती है।

वास्तुहारा में विभाजन और बांगलादेश के मुक्ति संग्राम के विस्थापितों के न्यूज़रील फुटेज का भी इस्तेमाल किया गया है। फ़िल्म का बहुत बड़ा हिस्सा शारणार्थियों की समस्याओं से जूझ रहे एक रिफ़्यूज़ी जूनियर ऑफिसर के संसार को समर्पित है। फ़िल्म के केन्द्र में एक ऐसी बंगला महिला है जिसने एक मलयाली से शादी की

थी पर पति की मृत्यु के बाद उसने अपने जीवन की लड़ाई खुद लड़ी। उसके बच्चे नक्सलवाद से आकर्षित हुए। लड़की जेल से पेरोल पर आयी हुई है। लेकिन बाहरी दुनिया की इन कटु सच्चाइयों के बीच अचानक प्रकृति एक बड़ी राहत का काम करती है।

अरविंदन अपने पात्रों और प्रकृति के प्रति एक अद्भुत ममता दिखाते हैं। **वास्तुहारा** में एक साधारण-सा प्रसंग है। कलकत्ता के होटल में ठहरा हुआ नायक सुबह-सुबह उठकर बालकनी में आता है। वह आधी नींद में सुबह का स्वागत कर रहा है। बगल की बालकनी में हम एक दाढ़ी वाले बूढ़े को बड़े जोग में कसरत करते हुए देखते हैं। बाद में रेस्तराँ में वह दूर अकेला मेज़ पर बैठा खूब जम कर खाता हुआ दिखायी देता है। यह पात्र फ़िल्म की मूल कथा से कोई मतलब नहीं रखता। पर वह हमें याद रहता है। अरविंदन की फ़िल्म कला की यह एक बड़ी विशेषता है।

अरविंदन कवियों, विक्षिप्तों, संतों, विस्थापितों के फ़िल्मकार थे। उन्होंने कुछ गिनी चुनी फ़िल्मों से ही अपना एक खास प्रदेश रच दिया था। इस प्रदेश की अपनी सिनेमाई शर्तें थीं। मूल रूप से यह चाक्षुष विश्व था जहाँ संत, पागल, कवि, विस्थापित सब भटक रहे थे। पर जीवन से उनका गहरा लगाव था। वे एक बेहतर जीवन का सपना थे।

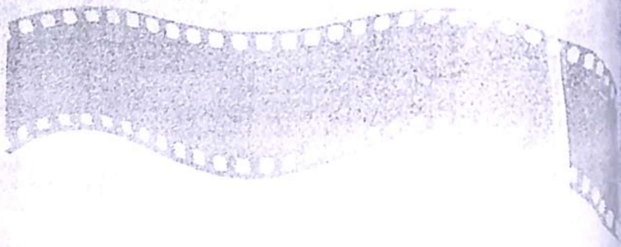






मोगेम्बो का विकासवादी सिद्धान्त

एलेन द्विग



'क्या आप मुझे खलनायक मानते हैं? मुझे नहीं लगता मैंने किसी खलनायक या नायक की भूमिका की है। मैंने तो सिर्फ़ एक व्यक्ति की भूमिका अदा की है। किसी भी व्यक्ति के आसपास के वातावरण का प्रभाव उसके चरित्र को गढ़ने में अहम् भूमिका निभाता है। अंदर से कोई भी खलनायक या नायक नहीं होता। यह तो गढ़े हुए साँचे हैं। कोई भी ठीक-ठीक नहीं बता सकता कि व्यक्ति के जीवन को दिशा देने में कौन-कौन लोग या परिस्थितियाँ ज़िम्मेदार रहे हैं। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि हर एक की अपनी-अपनी समस्याएँ होती हैं, सभी मनुष्यों में खलनायक का कुछ-कुछ अंश मौजूद रहता है।'

यह विचार लोकप्रिय खलनायक नाना पाटेकर के हैं। पाटेकर कोई अपवाद नहीं हैं। पहले की तरह आज भारतीय सिनेमा के खलनायक दुष्ट व दुष्चरित्र नहीं हैं। हालाँकि हम उस मुक़ाम पर तो नहीं पहुँचे हैं जहाँ खलनायक बैटमेन के जोकर की तरह होता है— उसके आडम्बर की सनक और वास्तविक वेशभूषा की नासमझी— यह सब विसंगतियाँ यह भूलने का एक *अपरिष्कृत प्रयास* हैं कि वह अब चिंतामुक्त युवक नहीं रह गया है पर निश्चित रूप से हम आज अतीत के दुष्ट खलनायक के परंपरागत चरित्र-चित्रण से आगे निकल आये हैं। निर्देशक सुभाष घई का कहना है, 'इन दिनों खलनायक के चरित्र को विकसित करने का प्रयास किया जाता है।

उसकी पृष्ठभूमि पर शोधकार्य होता है— उसका बचपन, उसका परिवार, क्या वह एक असुरक्षित व्यक्ति है और क्या वह घृणा और प्रतिशोध की भावनाएँ रखता है? कुछ पटकथा लेखक तो यहाँ तक खोजते हैं कि क्या वह कुम्भ, सिंह या वृश्चिक राशि का हो सकता है, हम लोगों का सोच अब यहाँ तक आगे बढ़ चुका है।'

समकालीन खलनायक— नाना पाटेकर, सदाशिव अमरापुरकर और नसीरुद्दीन शाह (शुरुआत की कुछ फ़िल्मों में)— वे लोग हैं जो आज की जनता को द्रवित करते हैं। अनुभवी खलनायक प्रेम चोपड़ा मानते हैं, 'रास्ते में कहीं पर लोगों की प्रतिक्रियाओं में परिवर्तन हुआ है। उन्हें खलनायक का चरित्र अब ज्यादा पसंद आने लगा है। निर्देशक भी खलनायक के पात्र को उभारने का पूरा प्रयास कर रहे हैं। खलनायक ही फ़िल्म में रोचक घटनाओं का सूत्रधार होता है। मुझे ख़ासकर **पुलिस पब्लिक** पसंद आयी। यह भेड़ की खाल में भेड़िये के चरित्र का प्रशंसनीय नमूना था।'

भारतीय सिनेमा में खलनायकी के उतार-चढ़ाव के इतिहास को खोजना रोचक है। दादासाहब फालके की ऐतिहासिक फ़िल्म **राजा हरिश्चन्द्र** (1913) में वह एक पतित देवदूत था, परिस्थितियों का *शिकार* जो बुराई के रास्ते पर चलने के लिए अभिशप्त था। जबकि बाद का खलनायक अपने काले कारनामों का भरपूर आनंद लेता रहा। उस वक्त की पौराणिक फ़िल्मों में खलनायक, कृष्ण का शत्रु, एक ऐसा व्यक्ति होता है जिसके पास अर्ध-दैवी शक्तियाँ हुआ करती थीं। **राजा हरिश्चन्द्र** के बाद के मूक वर्षों में, खलनायक दुष्ट राजा बन गया जो सत्ता हथियाने की ताक में लगा रहता था और प्रजा पर अत्याचार करता था। बाद में, जब पौराणिक फ़िल्मों का बनना कम हुआ, वी. शांताराम की फ़िल्मों में सामाजिक व्यवस्था खलनायक की जगह होती थी। मिसाल के तौर में वी. शांताराम की **अनएक्सपेक्टेड** में खलनायक का चरित्र-चित्रण सहानुभूतिपूर्वक किया गया है।

वास्तव में, मेहबूब ने अपनी सामाजिक जागरुकता की फ़िल्मों जैसे **रोटी, औरत** (1943) और **मदर इंडिया** (1956) में खलनायक को डकैत या साहूकार के रूप में स्थापित किया। यह नया खलनायक उस दौर के नये सिनेमा की सामाजिक चिंताओं वाली विषयवस्तु के लिए पूरी तरह उपयुक्त था। हालाँकि वह अंदरूनी तौर पर दुष्ट या घायल नहीं था, परन्तु उसे हत्या करने और प्रतिशोध लेने के लिए बाध्य होना पड़ा। घायल व्यक्ति के प्रमुख मूलभाव रूप में खलनायकी की अवधारणा आज तक ज़ारी है।

राजकपूर की फ़िल्मों, ख़ासकर **आवारा** में हम खलनायकी की थोड़ी भिन्न अवधारणा देखते हैं। खलनायक (के.एन. सिंह) एक व्यवस्था-विरोधी शहरी डकैत है जो समाज के हाशिये पर रहता है। प्रतिशोध की अवधारणा भी **आवारा** के साथ पहली बार प्रकट हुई। यह एक ऐसी अवधारणा थी जो एक तरफ़ तो पौराणिक फ़िल्मों से जुड़ी हुई थी तो दूसरी तरफ़ आज की खून-ख़राबे की फ़िल्मों से भी इसका गहरा संबध था।

आवारा के बाद खलनायकी के क्षेत्र में कोई ख़ास प्रगति नहीं हुई। 1950 के दशक में रूमानी सुखांत और दुखांत फ़िल्मों का ज़ोर था, जिसमें खलनायकी के

लिए कोई जगह नहीं थी। साठ के दशक के प्रारंभ में प्रसिद्ध **गंगा जमुना** में खलनायकी में एक अस्थायी उफ़ान आया। **गंगा जमुना** अवधारणा के हिसाब से देखा जाये तो **मदर इंडिया** जैसी ही है— एक अच्छे आदमी के बुरे बनने की कहानी। जहाँ **आवारा** का के.एन. सिंह एक अर्ध-सहानुभूतिपूर्ण पात्र है जो स्वेच्छा से बुरे रास्ते पर चल पड़ा था; वहीं **गंगा जमुना** का दिलीप कुमार शायद वह पहला *एंग्री यंग मैन* था जिसके सामने असामाजिक बनने के सिवा और कोई रास्ता नहीं था। प्रति-नायक (एंटी-हीरो) और खलनायक (विलेन) दोनों का एक जैसा चरित्र-चित्रण होता था, दोनों का अंत एक जैसा होता था, फ़र्क़ सिर्फ़ इतना था कि प्रतिनायक को तालियाँ मिलती थीं और खलनायक को गालियाँ।

नव-खलनायक क्लैसिक फ़िल्म **जंजीर** और **दीवार** में प्रकट हुआ और जनता के मनो-मस्तिष्क पर छा गया। नायक और खलनायक के बीच की रेखा धुंधलाती गयी। इस समय के सिनेमा में अधिक सघन ट्रैक, *फ़ास्ट कट्स*, प्रशंसनीय छायांकन और उच्च उत्पादन मूल्य प्रमुखता से स्थापित हो गये। इसके साथ ही ज़मींदारी, पितृसत्तावाद और बाहुबल का युग प्रारंभ हुआ। इस संसार में खलनायक का विकास हुआ और इन्हीं मूल्यों और बाहुबल की दम पर **घायल** जैसी समकालीन फ़िल्म हिट हुई। नायक और खलनायक समान रूप से बाहुबली हैं। नैतिक दृष्टि से भी वे भिन्न नहीं हैं। डैनी डेनज़ोंग्पा, अमिताभ बच्चन की भूमिका कर सकता है और अमिताभ बच्चन डैनी डेनज़ोंग्पा की भूमिका।

पर सत्तर के दशक के विपरीत आज का खलनायक दो तरह का है। वह अक़सर ऐसा व्यक्ति होता है जिसे आप पसंद करते हैं। घृणा करने के लिए पसंद करना, शायद, पर वास्तव में पसंद करना। निर्देशक शेखर कपूर, जिन्होंने **मिस्टर इंडिया** के मोगेम्बो को रचा है, का कहना है, 'हमारे अवचेतन में हम बहुत अच्छे और बहुत बुरे दोनों होने के प्रति सम्मोहित होते हैं। मेरी नज़र में **शोले** का गब्बर सिंह पहला विशुद्ध खलनायक है। **मिस्टर इंडिया** के मोगेम्बो में भी वहीं विशेषता थी।' समालोचक इक़बाल मसूद इससे सहमत नहीं हैं, 'याकूब पहला खलनायक था— वह भारतीय सिनेमा का अब तक का सर्वश्रेष्ठ खलनायक भी है।'

औरत एक युगधर्मी फ़िल्म है। याकूब अच्छे आदमी से बुरा नहीं बनता। खलनायकी के बीज उसमें पहले से ही मौजूद हैं। शुरुआत से ही वह अराजक और विघटनकारी है। वह नक्सलियों का सिनेमाई-जनक है। एक बौद्धिक कृति जो व्यवस्था और ज्ञान को हिकारत की दृष्टि से देखती है। दूसरी तरह के खलनायक में कुछ भी अच्छा नहीं होता। वह सिर्फ़ बुरे कर्मों में लिप्त रहता है। यही औसत हिन्दी फ़िल्म का खलनायक होता है। पर पहली तरह के खलनायक आजकल पर्दे पर अधिपत्य जमाये हुये हैं। पटकथा-लेखकों और निर्देशकों को अब यह महसूस होने लगा है कि खलनायक के जीवन के भी अन्य पहलू होते हैं। शेखर कपूर का मानना है, 'हमें बहुआयामी चरित्र रचना होगा, जो मानवीय हो और जिनमें अच्छाई का अंश है। आज के दर्शक यथार्थपरक खलनायक चाहते हैं। सफ़ल खलनायक इस बात को साबित करते हैं। दुर्भाग्य से, समस्या यह है कि हमारे अधिकांश फ़िल्म-निर्माता आज भी ज़्यादा सोचना नहीं

चाहते। हमें लोगों से सीखना होगा— उन लोगों से जो वास्तव में बहुत साधारण हैं। मैं जिन लोगों से मिलता या जिन्हें देखता हूँ, उनका निरीक्षण और विश्लेषण करता रहता हूँ। मोगेम्बो का चरित्र भी मेरे परिचितों में से गढ़ा गया था— उनकी आदतों, सनक और व्यवहार की विचित्रता से।'

अमरीश पुरी जोड़ते हैं, 'खलनायक अधिक लोकप्रिय इसलिये हो रहे हैं क्योंकि समकालीन पटकथा लेखक और निर्देशक आसपास के वातावरण से चरित्र उठाते हैं और फिर फ़िल्मी पात्रों का विकास करते हैं। अतीत में स्थिति, रवैया और मानदण्ड अलग थे। फ़िल्में धार्मिक हुआ करती थीं। नायक ईमानदार, इज़्ज़तदार, पत्नी के प्रति निष्ठावान हुआ करतें थे, जो परायी नारी को बुरी नज़र से देखने का विचार तक मस्तिष्क में नहीं लाते थे। इस तरह की फ़िल्में भी बनती थीं, पर आज समय और रुख़ दोनों बदल गये हैं। अगर आप नम्र और ईमानदार होना चाहते हैं तो आपको दस गुना ज़्यादा चीख़ना पड़ता है ताकि शोर-शराबे में आपकी आवाज सुनी जा सके। अच्छाई की तरह बुराइ की भी हमारे जीवन में उतनी ही महत्वपूर्ण भूमिका है। यह हमारे मस्तिष्क में है। हम विसंगतियों, पथभ्रष्ट खलनायक व व्यतिक्रम को पसंद करते हैं।'

अमरीश पुरी के मोगेम्बो के पात्र ने खलनायकी के नक्शे में क्रांति सी ला दी। मोगेम्बो क्रूर नहीं है, पर वह महत्वाकांक्षी है और जो पाना चाहता है, किसी भी कीमत पर पाकर ही रहता है। पुरी का कथन है, 'निर्देशक आज़ कलाकार को देखकर उनके लिये पात्र रचते हैं। इसी कारण अतीत के बेहूदे खलनायकों के मुक़ाबले में आज हमारे पास अधिक अच्छे और परिष्कृत खलनायक हैं।'

कुछ लोग इस वक्तव्य के विरोध में कुछ कहना चाहेंगे, पर प्रेम चोपड़ा ऐसा नहीं करते, 'साठ और सत्तर के दशक में खलनायक मूलतः दुष्ट आदमी हुआ करता था जो हर फ़िल्म में एक जैसी दुष्टता किया करता था। अब परिस्थितियाँ नाटकीय रूप से बदल चुकी हैं। पहले बहु-नायक फ़िल्मों की घोषणा होती है, अब बहु-खलनायक फ़िल्मों की घोषणा होती है।' दरअसल आज का युग खलनायक का युग है।

एक वक़्त था जब लोग प्रेम चोपड़ा को एक नज़र देखकर तुरंत सोचा करते थे **ख़ूनी, गुंडा, बलात्कारी** पर अब खलनायक डरावना नहीं रह गया है। नसीरुद्दीन शाह, जो केतन मेहता की **मिर्च मसाला** में खलनायक थे, मानते हैं, 'मैं सोचता हूँ कि **परिन्दा** में चोपड़ा एक निर्देशक के रूप में असफल साबित हुए हैं, क्योंकि उन्होंने एक ऐसा खलनायक प्रस्तुत किया है जिसे हम सब चाहने-सराहने लगते हैं। मैं अन्ना को चाहता हूँ, जबकि वास्तव में मुझे उससे घृणा करना चाहिये थी क्योंकि उसे क्रूर, परपीड़क खलनायक के रूप में उभारा गया था।'

खलनायकों में सबसे उद्धत खलनायक रंजीत स्थिति का समीचीन विश्लेषण करते हैं, 'लोगों के कहने के बावजूद भी मुझे नहीं लगता कि आज खलनायक-केन्द्रित फ़िल्मों की बाढ़ आयी हुई है। आज के खलनायकों के मुक़ाबले पहले के खलनायक जनता पर अधिक प्रभाव छोड़ते थे क्योंकि वे अधिक दुष्ट, पापी और अनगढ़ होते थे। आज के खलनायक दुष्ट नहीं हैं। वे सब कुछ करते हैं— हास्य-अभिनय,

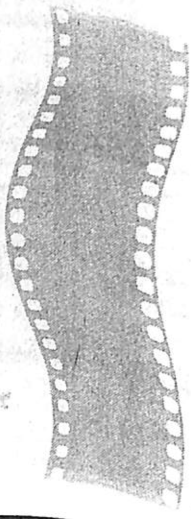
मसखरापन,गाने गाना (**चालबाज** में शक्ति कपूर, अनुपम खेर और रोहिणी हट्टंगड़ी) आदि। उनमें गंभीरता नहीं है और कोई भी उनसे भयभीत नहीं होता।'

वास्तव में, इस तरह हम कपूर और नसीरुद्दीन के विचार पर वापस लौट आते हैं कि आज के खलनायक दर्शकों को प्रिय होते हैं। अमरीश पुरी निष्ठुर अपराधी होने के बजाय छोटा-मोटा चोर बनकर रह गया है। शक्ति कपूर मसखरा बन गया है। अतीत के खलनायकों का जनमानस पर प्रभाव अधिक पड़ता था। उदाहरण के तौर पर लोग जीवन और सप्रू को देखकर थर-थर काँपने लगते थे। कोई भी अपनी पार्टी में रंजीत या प्रेम चोपड़ा को नहीं बुलाता था। माध्यम ही प्रभाव बन गया था।

हालाँकि रंजीत और नसीर मानते हैं कि खलनायकी का विकास नहीं हुआ है, दर्शक ऐसा मानते हैं। अठारह वर्षीय नाहिद जावेद का कहना है, 'भारतीय फ़िल्मों के खलनायक वास्तव में गूँगे हैं। हर खलनायक या तो बलात्कार करता है या फिर बलात्कार करने का प्रयास करता है। उसकी पहचान इसी से बनती है। आप शुरू से ही बता सकते हैं कि अब खलनायक क्या कहने और क्या करने वाला है। मुझे तो नये मसख़रे खलनायक पसंद हैं, मुझे शक्ति कपूर बहुत अच्छा लगता है। सच में वह मज़ेदार है और फ़िल्म में मसख़री के सिवा कुछ करता नहीं है। पर फिर भी ये सभी दुहराव के शिकार हैं— काले रंग से पुते हुए।'

21 वर्षीय स्नातक श्रुति देसाई के अनुसार, 'हिन्दी फ़िल्म का खलनायक सबसे अधिक मज़ाकिया लगता है। उसमें वास्तविक खलनायकी का अभाव होता है। वे दुहराव के शिकार होते हैं और एक ही ढर्रे पर चलते हैं। इसी तरह का दोहराव विदेशी फ़िल्मों के खलनायकों में भी नज़र आता है पर उनका चित्रण लाख गुना अधिक रोचक होता है।'

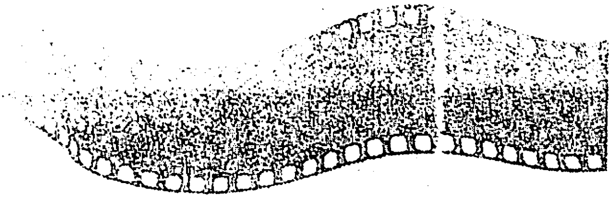
खलनायकों का सिनेमा अभी भारत में उतना विकसित नहीं हुआ है जितना कि पश्चिम में। भारतीय खलनायक को अभी एक लंबा रास्ता तय करना है। भारतीय खलनायक बदला है,इस संबंध में तनिक भी संदेह नहीं है। उसमें कुछ ही अच्छे गुण हैं, वह मूल्यों पर आघात करता है और वह हतभागों के प्रति वितृष्णा रखता है। पर अब भी वह हॉलीवुड के नये बुराई-के-लिये-बुराई खलनायक के लक्ष्य से बहुत दूर है।



अनुवादः सुधीर दीक्षित

आलोचक का आत्मकथ्य

इक़बाल मसूद



मैं आपको यह बताने की कोशिश नहीं करूँगा कि एक फ़िल्म क्या होती है या कि मेरी दृष्टि में किसी फ़िल्म में कौन-सी बात दिलचस्प होती है। निश्चय ही दूसरा प्रश्न अधिक दिलचस्प है— एक फ़िल्म के साथ कौन-सी चीज़ आती है? मैं सोचता हूँ कि यही मेरा योगदान हो सकता है, क्योंकि बुनियादी तौर पर मैं फ़िल्म विश्लेषक नहीं हूँ। मैं एक फ़िल्म समीक्षक और एक फ़िल्म आलोचक हूँ। बल्कि एक फ़िल्म समीक्षक अधिक हूँ। .जो कुछ भी मैं कह रहा हूँ उसे मैं विस्तारपूर्वक कहूँगा, क्योंकि मैं **इण्डियन एक्सप्रेस** के बम्बई संस्करण के लिए फ़िल्मों की समीक्षा करता हूँ। ये समीक्षाएँ अन्य संस्करणों में प्रकाशित नहीं होती। कभी-कभी मैं एक्सप्रेस मैगज़ीन के लिए कुछ उन फ़िल्मों का सारवृत्त लिखता हूँ, जो कि दो या तीन महीनों तक चली हों। निश्चय ही ये सारवृत्त पूरे भारत में प्रकाशित होते हैं। या कभी-कभी मैं कोई साक्षात्कार लिखता हूँ, मसलन पिछले दिनों प्रकाशित सत्यजीत राय के साथ का साक्षात्कार। ठीक-ठीक कहा जाये तो वह एक साक्षात्कार नहीं था। मैंने उनकी ताज़ातरीन फ़िल्मों के बारे में उनसे बातचीत की थी। इसलिए, एक समीक्षक होने के नाते, वह एक विशेष प्रकार का क्षेत्र है। आपको एक सीमित स्थान दिया जाता है और आपसे यह आशा नहीं की जाती कि आप फ़िल्म विश्लेषण की अपनी स्वयं की विचार-पद्धति का अनुसरण करें, क्योंकि स्पष्ट है कि पाठक भी यह जानना चाहता है कि वह उस फ़िल्म को देखे या न देखे। जब मैंने टी.डी.

मोन्टे के अनुरोध पर, सन् 1979 में एक्सप्रेस के लिए नियमित साप्ताहिक समीक्षा लिखने का भार अपने कंधों पर लिया तो मैंने उसके आयाम को जाना, क्योंकि मेरे पास फ़ोन कॉल और पत्र आने लगे। लोग सड़क पर मेरे पास आकर मुझसे बातें करने लगे, क्योंकि कुछ स्तंभों में मेरा फ़ोटो छपा करता था। मैंने उनसे कहा कि वे बाज़ आएँ। इसका कोई विशेष कारण नहीं था। किन्तु सोचता हूँ कि ऐसा करना उचित नहीं है, क्योंकि तब लोग मुझे सड़क पर रोक लेते थे, लड़के, युवक और स्त्रियाँ सभी मुझसे पूछते थे— आप अमिताभ के बारे में ऐसा क्यों लिखते हैं और इसी तरह के कई सवाल। इसलिए मैं कहूँगा कि बुनियादी तौर पर मैं एक फ़िल्म समीक्षक हूँ, किन्तु मैं फ़िल्मों के बारे में भी सोचता हूँ और भारत में हमें इन कार्यों को जोड़ना होगा। उदाहरणार्थ, यह घटना ऐसी है कि जो लोग लिखने में दिलचस्पी रखते हैं उन्हें यह जानना चाहिए कि विश्व में हर कहीं फ़िल्म समीक्षा पर कुल्हाड़ी गिर रही है। केवल भारत में ही यह नहीं हो रहा है। मुझे कुछ स्थान यह सोचकर दे दिया जाता है कि मैं एक लम्बे समय से लिख रहा हूँ, किन्तु अनेक दूसरे लोगों के बारे में ऐसा नहीं सोचा जाता।

मैं चाहता हूँ कि ऐसा हो। उदाहरणार्थ, लंदन के **गार्डियन** ने उपलब्ध स्थान को कम कर दिया है। मेरे सहकर्मी डेरिक मैल्कॅम से कहा गया कि वे महत्वपूर्ण फ़िल्मी सत्रों का एक साप्ताहिक सार लिखें। पॉलिन केल भी यह कार्य करती हैं, जो कि विश्व के अत्यन्त प्रचंड आलोचकों में से एक हैं। मेरी राय में डेविड रॉबिन्सन एक उत्तम आलोचक हैं। उन्होंने भी **टाइम्स** में अपने स्तम्भ को छोटा कर दिया है।

मैं देख रहा हूँ कि यह हो रहा है। एक समय ऐसा आयेगा कि जब कुल्हाड़ी गिरेगी ठीक वैसे ही जैसे कि पश्चिम में फ़िल्मों की आलोचना पर गिरी। इस प्रक्रिया को भारत में नहीं देखा जा रहा है क्योंकि हमें प्रदर्शनों वगैरह के लिए बहुत-सा स्थान मिल जाता है। किन्तु पश्चिम में परिस्थितियाँ सुखद नहीं हैं। किन्तु यह बताने के बजाय कि मैं इस बात से आरंभ करूँगा कि किस चीज़ ने मुझे फ़िल्मों की ओर आकर्षित किया, क्योंकि मेरा एक दृष्टिकोण है, बाद में हम उसका चाहे जैसा भी अभिनवीकरण करें यह मेरा दृष्टिकोण है। मैं फ़िल्मों को इसी दृष्टिकोण से देखता हूँ। यह फ़िल्म आलोचना की मेरी विचार पद्धति है। किन्तु मेरा विश्वास है कि आलोचक अपने लड़कपन में जो फ़िल्में देखता है वे फ़िल्में उसके शेष जीवन में उसके साथ रहती हैं। निश्चय ही उन पहली-पहली फ़िल्मों ने, जिन्हें आप रोमांस से भरपूर नायकों की मारधाड़ वाली फ़िल्में कहते हैं, मुझे प्रभावित नहीं किया। आज बहुतेरे लोगों को सुलोचना और बिल्मोरिया वाली फ़िल्मों की, हंटरवाली नादिया की फ़िल्मों की याद सताती है। मैंने उन फ़िल्मों को देखा है। श्री देवी ने फ़िल्म "शेरनी" में उसे फिर से बढ़िया ढंग से साकार कर दिखाया है। किन्तु यह फ़िल्म बॉक्स ऑफिस पर सफल नहीं हुई। जिस पहली फ़िल्म ने मुझे प्रभावित किया वह फ़िल्म थी **विद्यापति** (न्यू थियेटर्स) जिसमें कानन देवी और पृथ्वीराज कपूर ने अभिनय किया था। उस फ़िल्म ने पहली बार भारतीय समाज के कतिपय आयामों की शुरुआत की थी। मैं तेरह वर्ष का था और उसने मुझे मुग्ध कर दिया।

राजा अपनी रानी से बहुत प्रेम करता है। रानी कवि विद्यापति से प्रेम करती है और अनुराधा भी, जिसका अभिनय कानन देवी ने किया है, विद्यापति से प्रेम करती है। वे मन्दिर के भक्त थे। इसने भी एक प्रकार का त्रिकोण प्रस्तुत किया। प्रेम के विरुद्ध युद्ध की कथावस्तु भी प्रस्तुत की, किन्तु यह प्रश्न कहीं अधिक गहरा था कि अनुशासन क्या है, राज्य क्या है, राज्य क्या अपेक्षा करता है और मनुष्य का व्यक्तिगत *स्व* क्या मांगता है। मैं यह सब इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि तेरह वर्ष की उम्र में मैं यह सब नहीं समझता था। किन्तु उसके बाद मैंने वह फ़िल्म कभी नहीं देखी है। मैंने उस फ़िल्म के बारे में नहीं पढ़ा है क्योंकि उस पर बहुत सोचा-विचारा नहीं गया है। किन्तु पचास वर्षों से भी पहले के उन प्रभावों को लेकर मैं आपसे जो बात कह रहा हूँ वह यह है कि बाद में ज़िन्दगी के दौर में परिस्थितियों के जिस संपूर्ण संकुल से मेरा सामना हुआ उसकी इन बातों ने मुझे और मेरे भाई को ज़बर्दस्त ढंग से प्रभावित किया। मेरे चचेरे भाई भी मेरी ही उम्र के थे। मुझे याद है, हम लौटे। हमने वह फ़िल्म बंगलौर में देखी थी। वहाँ मेरे पिताजी ज़िला शिक्षा अधिकारी थे। इसलिए मैं बंगलौर में था। बुनियादी तौर पर मैं मद्रास का था। मैंने वह फ़िल्म बंगलौर में देखी और मुझे याद है कि हम दोनों लौटे और इस फ़िल्म पर रात के एक बजे तक चर्चा करते रहे, आख़िरकार हमारे माता-पिता ने आकर हमसे कहा कि हम सो जाएँ। बिल्कुल इसी लीक पर बनी दूसरी फ़िल्म थी **देवदास**। निश्चय ही आगे चलकर मैंने देवदास, फ़िल्म बारंबार देखी और देवदास के दूसरे संस्करणों को भी देखा। सभी भाषाओं में इसके दस संस्करण है।

देवदास की कथावस्तु प्रतिशोध की कथावस्तु है। संभवतः वह कथावस्तु हमारे समाज में कभी नहीं मरेगी। वह आज भी बहुत शक्तिशाली है। जब उसे टी.वी. पर दिखाया गया तो मेरे साथ उस फ़िल्म को देख रहे युवा पीढ़ी के बहुत से लोग उसे देखकर हँसे। किन्तु उस समय हम नहीं हँसे, और न रोये ही। फिर भी वह एक बहुत शक्तिशाली फ़िल्म थी, इसलिए नहीं क्योंकि उसमें सहगल और जमुना ने अभिनय किया था, बल्कि इसलिए क्योंकि उसमें कथा, निर्देशन और संगीत का तत्व शक्तिशाली था। किसी ने कहा कि गीत बहुत प्रभावशाली थे, जो कि उस समय बहुत महत्वपूर्ण थे। इसके विपरीत, मैंने इसके विरुद्ध क्यों कहा इसे मैं एक मिनट बाद समझाऊँगा, **दुनिया न माने** जिसमें एक विधवा युवती का विवाह एक बूढ़े आदमी से हो जाता है, जिसे अंग्रेज़ी में अनएक्स्पेक्टेड कहा जाता है, और **आदमी** जैसी फ़िल्में थीं। दोनों ही फ़िल्में व्ही. शांताराम की थीं। उनमें जिसे हम परिस्थितियों को देखने का महाराष्ट्रीय दृष्टिकोण कहते हैं उसमें और मेरे विचार से मीनाक्षी मुखर्जी द्वारा पुस्तक "दि नोवल" में, उपन्यास के यथार्थवाद, में उजागर किये गये दृष्टिकोण के बीच एक प्रकार का वैषम्य है। वह सही शीर्षक नहीं है, किन्तु उनकी अंतिम पुस्तक में उन्होंने कहा है कि फ़िल्म का हवाला नहीं दिया गया था, बल्कि उस

उपन्यास का हवाला दिया गया था जिस पर कि फ़िल्म आधारित थी, जिसमें ए अधिक काव्यात्मक, आह्वानात्मक जीवन दृष्टि थी। दूसरी ओर बंगला उपन्यासों मे जो कि बुद्धदेव दासगुप्त की इस वर्ष की पुरस्कार विजेता फ़िल्म **बाघ बहादुर** तक की फ़िल्मों के आधार रहे हैं, एक बहुत बुद्धिमूलक, अधिक बुद्धिमूलक जीवन-दृ है। **दुनिया न माने** फ़िल्म एक स्त्री का एक बूढ़े आदमी से ब्याह किये जा के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाती है। मैंने वह फ़िल्म बारंबार देखी है और मैं उसे आ भी एक बहुत ज़बर्दस्त फ़िल्म पाता हूँ। जिन लोगों ने यह फ़िल्म नहीं देखी है उन लिए मैं सिफ़ारिश करता हूँ कि यह फ़िल्म टी.वी. पर दिखाई जाये या कि फि उसे बड़े पर्दे पर देखा जाये। वह उन कुछ फ़िल्मों में से एक थी, जो कि मध्यवर्गी जीवन के एक प्रकार के ज़ाल को उजागर करती हैं। ऐसा करने में बहुत क फ़िल्में सफ़ल हुई हैं। उसमें कोई नैतिक निर्णय नहीं है, बल्कि छोटे नगरों मध्य-वर्ग का वास्तविक भौतिक पर्यावरण है, और उस समय पुणे बहुत बड़ा शह नहीं था। वह एक प्रकार का एक पूरी तरह से कला वातावरण था जो कि ह घेरे हुए था। अचानक एक युवती का विवाह एक बूढ़े आदमी से करा दिया गय किन्तु समस्या यह नहीं है। समस्या जिसे हम देख सकते हैं, यह है कि एक ओजस आत्मा को विवाह की सीमाओं में बाँधकर नहीं रखा जा सकता। जैसे-जैसे अ बड़े होते हैं और फ़िल्म के बारे में सोचते हैं आपको उसका अहसास होने लगत है। फ़िल्म का मुद्दा एक युवती का विवाह एक बूढ़े आदमी से कर देने की सामाजि कुरीति नहीं था, किन्तु शान्ताराम जिस मुद्दे को उठाने की कोशिश कर रहे थे व बहुत संवेदनशील था। फिर फ़िल्म **आदमी** से हमारा सामना होता है। फ़िल्म **आदम** एक पुलिस कान्स्टेबल और एक वेश्या की प्रेम कहानी है। यहाँ भी कर्तव्य बनाम प्रेम वाले ढर्रे का एक फ़ार्मूला मात्र नहीं है, यद्यपि अन्त में वह वैसा हो जा है। उसमें एक प्रकार से एक निश्चित ढाँचे में बँधे-बँधाये जीवन और कोठे के अराजक जीवन को आमने सामने रखा गया है और इन्हीं परिस्थितियों में कान्स्टेबल को वेश्या से प्रेम हो जाता है। इन चार फ़िल्मों ने एक प्रकार से न केवल भारतीय सिनेमा और संभवतः भारतीय जीवन की ओर देखने के दृष्टिकोण को, बल्कि के दूसरे भाग की ओर देखने के दृष्टिकोण को भी निश्चित कर दिया। आपको कहना होगा कि आपका दूसरा आधा भाग क्या है, जो कि अनालोचक आधा भा है, मुस्लिम, रुढ़ि-रीतियों में बँधा, मध्यबर्गीय पृष्ठभूमि वाला आधा भाग है, जिस आप उस उम्र के लिहाज़ से उर्दू में निष्णात हैं। जिस प्रकार का आलोचक मैं उसका उस पृष्ठभूमि से भी संबंध है, क्योंकि उम्र में भी उर्दू साहित्य का सब भाष्यकार होना भी जीवन की ओर देखने का एक नाटकीय ढंग है।

जिन कवियों का मैंने आरंभ में अध्ययन किया ग़ालिब नहीं, बल्कि इकबाल औ सुप्रसिद्ध सुधारवादी कवि ख़लील जिब्रान का, जिसकी अत्यन्त विद्रोही, क्रांतिक और आमूल परिवर्तनवादी कविताएँ आज भी पढ़ी जाती हैं, उनमें जो व्यवस्था भंज का तत्व है, उस व्यवस्थाभंजक तत्व ने मुझे प्रभावित किया। उस पृष्ठभूमि को लेक जब आप 1940 के दशक में आते हैं और मेहबूब की **रोटी** जैसी फ़िल्म देख

हैं तो वह बहुत आमूल परिवर्तनवादी जान पड़ती है। कुन्दन शाह ने, जो कि एक अच्छे फ़िल्म निर्माता है, उसे एक आतंकवादी फ़िल्म कहा और वह टी.वी. पर दिखायी गयी। देखिए, यदि आप ऐसी समष्टियों में विकसित होते हैं तो कॉलेज में जाने पर वामपंथी आंदोलन से आपका परिचय होना, आपका उसमें दिलचस्पी लेना, **आयरनहील** जैसी पुस्तक को पढ़ना, जिसे लोग भूल चुके होंगे, जिसमें संपन्नों और विपन्नों के बीच एक प्रकार का अन्तर्भासिक युद्ध उभर रहा है— ये सभी बातें स्वाभाविक हैं। मेरे ख्याल से वह साम्यवादी पार्टी का नेता था। उस समय वह लेनिन का कृपापात्र था। फ़िल्मों के प्रति इस प्रकार का दृष्टिकोण अपनाया जाने लगा और फिर 1940 के दशक में पेन्गुइन फ़िल्म समीक्षाएं आने लगीं, जिनके मूल्यवान पुनर्मुद्रण ब्रिटिश कौंसिल लाइब्रेरियों में उपलब्ध हैं।

मैंने जो पहली-पहली विदेशी फ़िल्में देखी वे भी उतनी ही महत्वपूर्ण थीं। एक फ़िल्म थी **ऑडमैन आउट** और दूसरी फ़िल्म थी **राशोमन**। निश्चय ही फ़िल्म **राशोमन** एक क्लैसिक फ़िल्म बन गयी और हर कोई जानता है कि **राशोमन** से कौन सी बात आई है। मैं इस फ़िल्म को उस ज़माने की **शोले** जैसी फ़िल्म कहूँगा। केवल फ़िल्म **राशोमन** ने ही नहीं, बल्कि दूसरी फ़िल्मों ने भी, कुरोसोवा की दूसरी फ़िल्मों **सेवन समुराई** वग़ैरह ने भी मुझे प्रभावित किया। आप देखते हैं कि संपूर्ण जीवन प्रणाली, बहुत अनुशासनबद्ध जीवन-प्रणाली एक आकस्मिक संयोग से टूट जाती है। जैम्स बैसन की फ़िल्म **ऑडमैन आउट** एक अद्भुत फ़िल्म थी, उत्तम चलचित्रीय प्रदर्शनों में से एक थी। उसके बाद, संभवतः मेरी आलोचना, एक प्रकार से, प्रदर्शनों की ओर अधिक झुक गयी। संभवतः अर्धसचेतन रूप में मैं एक ऐसा आलोचक बन गया, जो कि प्रदर्शनों को पसंद करता है, क्योंकि उन दिनों मैंने जो थोड़ी-बहुत उत्तम फ़िल्में देखी थी वे प्रदर्शनोन्मुख थीं। किन्तु, निश्चय ही, फ़िल्म **राशोमन** मात्र प्रदर्शन नहीं है। वह निश्चय ही, अच्छे अर्थ में थियेटर है। **ऑडमैन आउट** में मरता हुआ जेम्स बैसन कहता है "मैं एक ऐसा आदमी हूँ जिसका पीछा किया जा रहा है।" वह एक बहुत उत्कृष्ट फ़िल्म थी। अब हम 1950 के दशक में आते हैं। 1950 के दशक में (दशक के आरंभिक वर्षों में), जब मैं 26 या 27 साल का था, मैंने **वार एंड पीस** पर एक आलोचनात्मक लेख लिखा— किंग वाइडर संस्करण पर न कि बर्न और फोण्डा संस्करण पर। उस फ़िल्म में ट्वेंटियेथ सेंचुरी फ़ॉक्स ने बंबई से एक प्रचार अभियान आरंभ किया था। तब मैं बंगलौर में एक आयकर अधिकारी था। उन्होंने इस फ़िल्म की समीक्षाएँ आमंत्रित कीं और वे उत्तम समीक्षा के लिए पुरस्कार और पारितोषिक देने वाले थे। चूँकि मैं एक सरकारी अधिकारी था, इसलिए मैंने मेरी पत्नी के नाम से समीक्षा भेजी, ताकि वे इस बात से प्रभावित न हों कि मैं एक सरकारी अधिकारी था। मेरी समीक्षा को द्वितीय पुरस्कार मिला। मुझे ताज़्जुब हुआ क्योंकि मैंने तो वह समीक्षा मज़ाक-मज़ाक में भेजी थी। अब मैं उस दुविधा में फँस गया, जो कि एक फ़िल्म आलोचक के मन में होती है। वह दुविधा यह थी कि हमसे हमेशा कहा जाता है, (सबसे नहीं) हममें से कुछ लोगों से कहा जाता है क़ि हम फ़िल्मों की ओर चलचित्रीय दृष्टिकोण से नहीं देखते। हमसे कहा जाता है कि आप साहित्यिक आलोचक हैं।

वस्तुतः यह प्रश्न मेरे सामने **कोहियर्स दु सिनेमा** द्वारा रखा गया था, जो कि फ्रांस की एक प्रमुख फ़िल्मी पत्रिका है और विश्व की प्रमुख फ़िल्मी पत्रिकाओं में से एक है। मैं नहीं जानता कि उन्होंने मेरे लेखों का अध्ययन कैसे किया। यह घटना सन् 1980 की है जब मैं तृतीय फ़िल्मोत्सव के लिए स्मिता पाटील, अडूर गोपाल कृष्णन तथा गिरीश कर्नाड के साथ वहाँ गया था। मुझसे पूछा गया, क्या आप एक साहित्यिक फ़िल्म समालोचक की बनिस्बत एक साहित्यिक आलोचक हैं? तब मैं यह प्रश्न सुनकर ठिठक गया और फिर मैंने कहा हाँ, क्योंकि मैं अपनी समीक्षा में फ़िल्म को समझने के ढंग को प्रधानता देता हूँ, वह मेरे स्वभाव का एक पहलू है। अब, जो कुछ भी पृष्ठ पर आता है उसे लेखन के मानकों को पूरा करना होता है, जो कि मेरे मतानुसार बुरा या अच्छा होता है। यदि कोई चीज़ मुझे संतुष्ट नहीं करती तो मैं वह समीक्षा नहीं लिखूँगा। होता यह है कि बम्बई की हिन्दी फ़िल्मों की समीक्षा में मेरे पास कहने को कुछ भी अधिक नहीं होता। फिर मैंने संपादक से कुछ ही वाक्य लिखने की आज़ादी ले ली, क्योंकि मैं यह सोचता हूँ कि यदि कोई आलोचक किसी ऐसी फ़िल्म के बारे में पृष्ठ पर पृष्ठ लिखता है, जो कि उसकी दृष्टि में घटिया है, तो यह उसके समय की बर्बादी है। मैं यह नहीं कहता कि समाजशास्त्रीय और दूसरे दृष्टिकोणों से वह महत्वपूर्ण नहीं है, किन्तु मैं अपना समय बर्बाद नहीं करना चाहता।

फिर 1960 के दशक में मैं लगभग सात या आठ सालों के लिए भारत से बाहर गया। मैं मध्य पूर्व और अमेरिका गया। अब मैं एक प्रश्न पर आता हूँ। वह प्रश्न यह है कि क्या फ़िल्मों की आलोचना लिखने का पूरा कार्य बुनियादी तौर पर मात्र सम्भ्रान्त वर्गवादी नहीं है? हमें स्वीकार करना होगा कि वह वैसा है। इसका कारण यह है कि सबसे पहले अभिलेखागार का प्रश्न आता है। हमने यहाँ अनेक फ़िल्मों पर चर्चा की, बड़ी लम्बी सूची थी। हम यह कहना चाहते हैं कि इन सभी फ़िल्मों के लिए फ़िल्म अभिलेखागार जाना होगा पुणे में या कहीं और, या फ़िर इन सभी फ़िल्मों को देखने के लिए आपके पास एक वी.सी.आर. होना चाहिए। यह आवश्यक है कि इन सभी फ़िल्मों के बारे में लिखने के पहले आप उन्हें देखें। भारत में कितने लोग ऐसा कर सकते हैं? 1960 के दशक में फ़िल्म **सिटिज़न केन** को आप आसानी से तब तक नहीं देख सकते थे जब तक कि आप किसी फ़िल्म सोसाइटी के सदस्य न रहे हों और हों भी तो आपको विशिष्ट प्रिंट के आने की प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। मुझे एक सरकारी दौरे पर यू.एस.ए. जाना पड़ा। इस दौरे का संबंध कुछ-कुछ आयकर से था। सिनेमा से उसका कोई भी संबंध नहीं था। किन्तु मैंने मन में ठान ली और वाशिंगटन पहुँचने के दूसरे ही दिन मैं पूछताछ करने लगा कि फ़िल्म सोसाइटियाँ कहाँ हैं, और फिर मैंने फ़िल्म **सिटिज़न केन** देखी। किन्तु दूसरी सुबह मैंने देखा कि फ़िल्म **सिटिज़न केन** वाशिंगटन में एक थियेटर में दिखाई जा रही थी और एक डॉलर चुकाकर आप उसे 24 घंटे लगातार देख सकते थे। **सिटिज़न केन** की प्रतिध्वनियाँ मैंने फ़िल्म **बैटमैन** में पाईं। **बैटमैन** में एक मिलता-जुलता दृश्य है। फ़िल्मों के साथ मेरा इस प्रकार का संबंध रहा

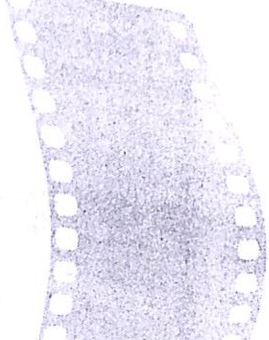
है। आपके पास यह उपकरण होना चाहिए और निश्चय ही संवेदनशीलता होनी चाहिए, वह एक अलग चीज़ है- आलोचनात्मक संवेदनशीलता। आपके पास सामग्री होनी चाहिए। भारत में आपके पास कच्ची सामग्री नहीं होती। मुझे तब आश्चर्य हुआ जब एक अमरीक़ी फ़िल्म आलोचक ने एक पुस्तक में यह शिकायत की और उसने कहा कि यह बुनियादी तौर पर एक सभ्रांत वर्गवादी कार्य है और राज्य या शासकीय प्राधिकारियों का यह कार्य है कि उसे कम सभ्रांत वर्गवादी बनाएँ। यही बात मैं भारत में कहना चाहता हूँ, ताकि लोगों को इसका अधिक अवसर मिले। मैंने 1947 में मेहबूब द्वारा निर्मित फ़िल्म **ऐलान** पर कुछ लेख लिखे हैं और मैं चाहता हूँ कि उन्हें भारत में सिनेमा जगत में प्रचारित किया जाये। यदि आप मुस्लिम-सामाजिक कहानी में दिलचस्पी रखते हों तो यह एक बहुत दिलचस्प और महत्वपूर्ण फ़िल्म है। मैंने इस फ़िल्म को बहुत खोजा और वह अभिलेखागार से लायी गयी। यह फ़िल्म अपने विशिष्ट फॉर्मेट के कारण किसी भी पर्दे पर देखी नहीं जा सकती थी, इसलिए मुझे नेहरु सेंटर जाना पड़ा। उसकी प्रयोगशालाओं में से एक में जैसे-तैसे बैठकर मैंने यह फ़िल्म देखी। इन कठिनाइयों को दूर किया जा सकता है और भारत में फ़िल्म आलोचना के लिए अनेक संगठनात्मक उपाय करने होंगे। ख़ैर, मैं भारत लौटा और मैंने 1984 के उत्सव के बारे में कुछ लिखा। वह महज़ एक हल्की-फुल्की चीज़ थी। **डेबोनेयर** पत्रिका के संपादक अनिल धारकर ने मुझसे कहा कि मैं महीने में एक बार "डेबोनेयर" के लिए हिन्दी फ़िल्मों पर लिखूँ। फिर मैं कलकत्ता गया और वहाँ मैं राय, मृणाल सेन और दूसरे मित्रों से मिला और उनसे सिनेमा के बारे में बहुत चर्चा की। निश्चय ही उस स्तर पर मैंने बहुत-कुछ सीखा, इसमें कोई संदेह नहीं है। वहाँ मैंने भारत के उत्तम आलोचकों में से एक आलोचक सौमित्र बनर्जी और स्वप्न मल्लिक से भी चर्चा की। जब आप ऐसे क्षेत्र में आते-जाते हैं तब आप उन लोगों के बारे में बहुत-कुछ सीखते हैं जिनके जीवन के संबंध में आप सोचते और लिखते रहे हैं। मैं बंबई लौटा और मुझे समीक्षक का कार्य सौंपा गया और तब से मैं कुछ दूसरे समाचार-पत्रों में लिखता रहा हूँ। **डेबोनेयर** पत्रिका में मैं विदेशी फ़िल्मों पर लिखता हूँ। हाल ही की एक फ़िल्म **डेन्ज़रस लिएज़न्स** के बारे में मुझमें बहुत दिलचस्पी पैदा हुई है। जब मैं **डेन्ज़रस लिएज़न्स** के बारे में लिख रहा था तब मुझे एहसास हुआ कि मैं जो कुछ लिखूँगा वह तब तक निरर्थक होगा जब तक कि फ़िल्म को आलोचना की कठोर कसौटी पर कसने के पहले मैं पुस्तक को न पढ़ूँ। उसमें दो पेशेवर लंपटों के बीच पत्रों का आदान-प्रदान है, जिनमें से एक अभिजात्यवर्गीय स्त्री है और दूसरा है उसका यार। फ़िल्म आलोचना का एक जघन्य धरातल है। आप **डेन्ज़रस लिएज़न्स** जैसी फ़िल्म के बारे में, उसकी पृष्ठभूमि में गये बिना, कैसे लिखते हैं? उसकी फ़िल्म समीक्षा कैसे करते हैं, जो कि अत्यन्त परिष्कृत है। इसलिए **डेबोनेयर** पत्रिका के अंतिम अंक में, लेख के आधे भाग में फ़िल्म का सारांश दिया गया था। मैं इस बारे में रुढ़िवादी नहीं हूँ। पुस्तक में मुझे जो उद्धरण महत्वपूर्ण लगे उन्हें मैंने ले लिया और फिर उन्हें इस फ़िल्म में ग्लेन क्लोज़ के द्वारा प्रस्तुत

किये गये प्रदर्शनों से संबद्ध किया। आप जानते हैं कि ग्लेन क्लोज़ के प्रदर्शन उत्कृष्टतम होते हैं। किन्तु इस फ़िल्म को अकादेमी अवॉर्ड नहीं मिला। फिर भी उसमें कुछ ऐसी चीज़ है जिसे आपको देखना चाहिए। अभिनेत्री ने, निर्देशक ने उस पुस्तक का अध्ययन कितने ध्यान से किया था। पुस्तक में एक वाक्य है जिसमें वह स्त्री अपने यार को अपनी स्वतंत्रता की घोषणा करते हुए कहती है, "मैंने स्वयं का निर्माण किया।" याद रहे कि यह एक आधुनिक वाक्य है, जो कि अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में लिखा गया था। 'ग्लेन क्लोज़' द्वारा यह वाक्य जिस ढंग से संप्रेषित किया गया है वह अवर्णनीय है। इस प्रश्न का उत्तर देना बहुत कठिन है कि मैं अच्छी फ़िल्म किसे समझता हूँ। कल कोई मुझसे कह रहा था कि कलात्मक फ़िल्म नहीं बल्कि गंभीर प्रयोजन से बनाई गई फ़िल्म और पूर्णतः मनोरंजन के लिए बनायी गयी (**चालबाज़** जैसी) फ़िल्म के लिए अलग-अलग मानदंडों का उपयोग करना होगा। देखिए, मुझे तो **चालबाज़** की भी समीक्षा करनी है और मणि कौल की फ़िल्म **सिद्धेश्वरी** की भी, जो कि क्षितिजों को खोल देने वाली फ़िल्म है। मैं उसे देखकर उसके प्रति न्याय नहीं कर सकता। स्पष्ट है कि आपको दो अलग-अलग मानदंडों को उपयोग में लाना होता है। मैं श्रीदेवी की फ़िल्म **चालबाज़** का तिरस्कार नहीं करता। मैं उसे आधुनिकोत्तर कॉमिडी कहता हूँ, और वह आधुनिकोत्तर कॉमिडी इस अर्थ में है कि वह सतहों की कॉमिडी है, उसमें हर चीज़ जगमगाती हुई है। जब आप संवेदनशीलता की बात करते हैं तो मैं इन नतीज़े पर पहुँचता हूँ। दरअसल मैं आलोचक के उपकरणों के बारे में कहूँगा, भले ही मुझे कहना होगा कि यह बात सभी पर लागू नहीं होती। आपमें एक-एक चीज़ को दूसरी चीज़ से जोड़ने की योग्यता होनी चाहिए। आपमें केवल लय के भीतर के संबंधों को, बल्कि किसी शॉट के भीतर के संबंधों को इस शॉट और अगले शॉट के बीच के संबंधों को खोजने की योग्यता होनी चाहिए। यही मानक आलोचनात्मक परिपाटी है। आपको उस कहानी, आलेख, संवाद, निर्देशक की शैली को देखकर तुलना करनी होती है। आप एक भी शॉट को अनदेखा नहीं कर सकते। आप मणि कौल की फ़िल्म के कुछ प्रसंगों को देखते हैं और आप कह सकते हैं कि वह मणि कौल की फ़िल्म है। यही बात कुमार शाहनी पर लागू होती है। गोविंद निहलानी और सत्यजीत राय पर भी यही बात लागू होती है।

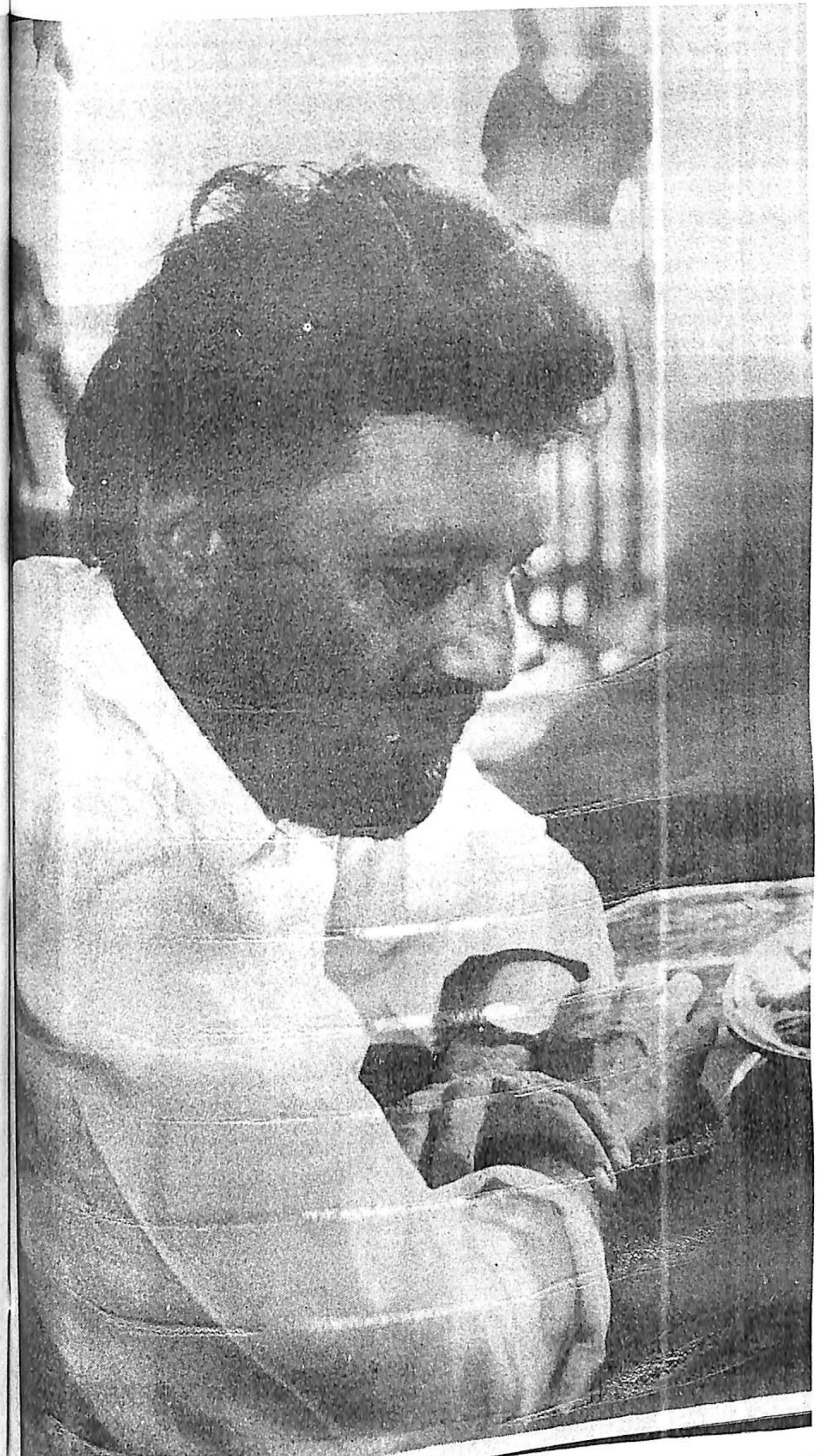
अनेक फ़िल्में देखने के बाद ही आप उस क्षमता का विकास कर सकते हैं। इसलिए मेरी दृष्टि में अच्छी फ़िल्म वह है, जो कि अन्य दृष्टियों से एक फ़िल्म हो। मेरा तात्पर्य यह है कि वह अच्छे आलेख, अच्छी रचना शैली और दर्शनीयता की न्यूनतम अर्हताओं को पूरा करती हो। मेरा यह विचार है कि फ़िल्म की उसकी अपनी शैली होनी चाहिए। आलोचक की भी व्यक्तिगत शैली होना चाहिए। वैद्यनाथन् ने कहा कि फ़िल्मों में अयुक्तियुक्तता होती है। हाँ। अयुक्तियुक्तता के संबंध में आपकी क्या प्रतिक्रिया होती है यह पहला मुद्दा है। मुद्दा यह है कि मैं उन फ़िल्मों को पसंद करता हूँ, जिनमें संदर्भ हों। मैं भाषात्मक संदर्भ की बात नहीं कर रहा हूँ, बल्कि सीधे-सादे संदर्भ की बात कर रहा हूँ। संदर्भ इस अर्थ में हो कि वह फ़िल्म के

परे जाता हो और वह उन चीज़ों का निर्देश करे या संकेत दे, जो कि फ़िल्म में न दिखायी गयी हों, जैसा कि तारकोवस्की की फ़िल्म में होता है। बहुत-कुछ अनकहा रह जाता है। जो कुछ अनकहा होता है वह जो कुछ कहा गया होता है उसकी अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होता है। पिछले दो मुद्दों में मैंने जो कुछ भी कहा उसके अतिरिक्त बहुत-सी बातें ऐसी हैं जिनके बारे में कहा जा सकता है। तीसरा मुद्दा यह है कि हिन्दी फिल्मों में मैं संवादों को पसंद करता हूँ। मैं सन् 1936 से ही, जब मैंने, विद्यापति फ़िल्म देखी थी, संवादों को बहुत पसंद करता हूँ, किन्तु फ़िल्म **पुकार** (पुरानी) के संवादों जैसे भड़कीले संवादों को नहीं। इसके अतिरिक्त मैं यह चाहता हूँ कि संवाद वाक्चातुर्यपूर्ण हों जैसी कि **अप्पूराजा** एक बहुत वाक्चातुर्यपूर्ण फ़िल्म है। उसमें अधिक वाक्चातुर्य है, जो कि उष्मा-संक्रमण में नहीं खो जाता। **मथिलुकल** अडूरगोपालकृष्णन् की एक बहुत गंभीर फ़िल्म हैं। यदि आप मलयालम भाषा समझते हों तो आप उस चरित्र में बहुत वाक्चातुर्य पायेंगे, जिसे कि जेल ले जाया जा रहा हैं, वह ज़ेलर के साथ हँसी-मज़ाक भरी बातें करता है और ज़ेल तथा इस मनुष्य के बीच जो कुछ भी बातें होती हैं वे एक ऐसे समाज को उज़ागर करती हैं, जो कि स्वयं शिथिल है। आपको इस प्रकार का संबंध जोड़ना होता है। अंततः मैं यह चाहता हूँ कि फ़िल्में सुरुचि संपन्न हों, सुरुचिपूर्वक शॉट की गयी हों। हिन्दी फ़िल्मों के बारे में मेरी यही मुख्य शिकायत रही है। शूटिंग का मात्र अच्छा होना पर्याप्त नहीं है, शैली में सुरुचि भी होनी चाहिए। मेरे विचार से फ़िल्म को सार्वभौम होना चाहिए, जिस तरह कि भारत की चित्रकला सार्वभौम है। फ़िल्म को, यहाँ तक कि तथाकथित अत्यंत देसी फ़िल्म को भी सार्वभौम होना चाहिए। शायद हममें से अनेक लोगों को नरसिंह राव द्वारा बनायी गयी फ़िल्म **दासी** के बारे में मालूम नहीं होगा। इस फ़िल्म में अच्छा अभिनय है और इसे ढेरों पुरस्कार मिले। फिल्म **दासी** पूर्णतः तारकोवस्की की स्कल्पटिंग इन टाइम का शाब्दिक वाचन है। स्वयं उसके निर्देशक से मुझे यह मालूम हुआ। मैंने यह फ़िल्म देखी और उसके बारे में लिखा। फिर मैंने अपने मित्र नरसिंह राव से कहा कि वह फ़िल्म तारकोवस्की के शब्दशः वाचन से ग्रस्त है। मैं इस प्रयास को पसंद करता हूँ। **दासी** के विरुद्ध बहुत सारी आलोचना की जा सकती है। अनेक फ़िल्म आलोचक, जिनकी राय का मैं आदर करता हूँ, इस फ़िल्म को पसंद नहीं करते। किन्तु मैं इस फ़िल्म को पसंद करता हूँ, क्योंकि यह व्यक्ति आंध्र के गाँव में सचेतन रूप से पला-बढ़ा उसका मन व्यापक क्षितिज के प्रति खुला हुआ था, उसने तारकोवस्की को पढ़ा और उसने एक प्रयास किया, भले ही यह एक निष्फल प्रयास हो। यही बात राय के बारे में कही जा सकती है और यहाँ तक कि बिमलराय, गुरुदत्त और मेहबूब खान जैसे निर्देशकों के बारे में भी। मेहबूब खान को अपरिमार्जित निर्देशक कहा जाता था, किन्तु निश्चय ही उनका मन बहुत गहरे तक जाता था। निःसंदेह, कुमार शाहनी और मणि कौल को आप पूर्णतः तब तक नहीं समझ सकते जब तक कि आपके पास कोई अधिमान न हो। आप उसे

नगरीय/विश्वजनीज़ कह सकते हैं। यहाँ तक कि आज की मारधाड़ की फ़िल्मों को भी, कतिपय अपेक्षाओं के अनुरूप होना पड़ता है। मैं किस प्रकार की फ़िल्म पसंद करता हूँ इसका मैं एक अंतिम उदाहरण दूँगा। अब फ़िल्म **परिंदा** को लीजिए, वह एक बहुत हिंसात्मक फ़िल्म है। इस फ़िल्म में जो हिंसा है उससे बचा जा सकता था। यद्यपि उसे एक फ़ार्मूला फ़िल्म के रूप में स्वीकार किया जाता है तथापि विनोद चोपड़ा ऐसा कोई दावा नहीं करते कि वह एक प्रकार से फ़ार्मूला फ़िल्म नहीं है। हाँ, वह एक प्रतिशोध फ़ार्मूला पर आधारित है और विनोद चोपड़ा बहुत सचेतन रूप से, निश्चय ही बहुत सफ़लतापूर्वक भी नहीं, **परिन्दा** में देवदास कथानक ले आये हैं, जिस पर ध्यान भले ही न जाये पर वह वहाँ है। उदाहरणार्थ, नायिका का नाम पारो है। मैंने इस फ़िल्म को उसके बनने के दौरान देखा है। सबसे पहला शॉट बंबई का है, यह एक बेबिलोन जैसा है। मेरा ख़्याल है कि यह शॉट मरीन ड्राइव की किसी इमारत की छत पर से लिया गया है। सारा वातावरण फ़िल्म की प्रवृत्ति के अनुरूप है और सबसे पहले बीथोवन की फ़िफ़्थ सिम्फ़नी सुनाई देती है। फिर मुझे ऐसा लगा कि वह कुछ-कुछ उत्पीड़क थी, किन्तु मैंने उनसे यह नहीं कहा। मेरा ख़्याल है कि उनके भाई को संगीत में दिलचस्पी है, जिन्होंने बीथोवन की सिम्फनी के बदले आयर्न पॉप ब्लैंड को रख दिया। यह एक बड़ी छलाँग है। अब उन्होंने उसके पाठ को निश्चित किया और संगीत की कुछ अच्छी धुनें दीं। संगीत सुखद था, भले ही सबके लिए ऐसा न हो। विनोद चोपड़ा मेरे मित्र हैं। मुझे ऐसा महसूस हुआ कि मैंने कथानक, बंबई के उनके द्वारा प्रस्तुत किये गये सर्वदृश्यक चित्र, आगे क्या होने वाला है और संगीत के बीच के संबंध को नहीं जाना है, जिस क्षण आप उसे देखते हैं उस क्षण आपको कतिपय सुख मिलता है, किन्तु आप सब कुछ तत्काल मन में अंकित नहीं कर लेते। जब मैंने उसे देखा तो सब कुछ मेरे मन में अंकित नहीं हुआ, किन्तु जब मैंने उसके बारे में सोचा तो मैं उसका परीक्षण तेज़ी से करने लगा। यह एक और मुद्दा है। आपको किसी फ़िल्म पर कुछ लिखने के पहले उसे अपने मन के भीतर अधिक देखना चाहिए। फिर मैंने परस्पर संबंधों के इस प्रकार के ताने-बाने का अनुभव किया। ये मात्र सीधे-सादे विचार हैं, और जैसा कि उन्होंने कहा, यह एक व्यक्तिगत चीज़ है। निश्चय ही यह अच्छे सिनेमा की परिभाषा का या अच्छे आलोचक की परिभाषा का परिशिष्ट नहीं है, किन्तु मैं बस इतना ही कह सकता हूँ।



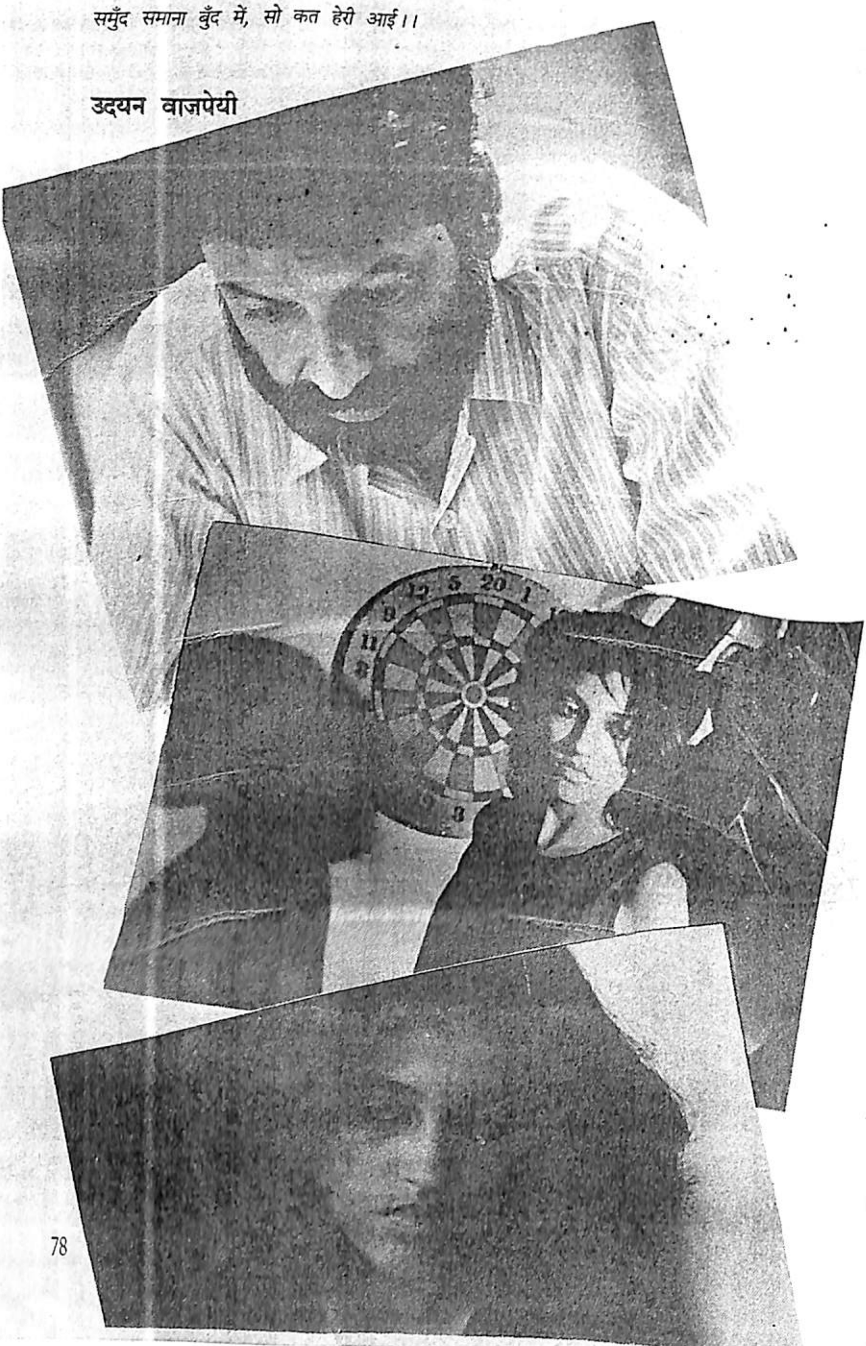
अनुवादः मोरेश्वर रामपल्लीवार



क्या खोजती है नज़र?

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराई।
समुँद समाना बुँद में, सो कत हेरी आई।।

उदयन वाजपेयी





पुरानी कलात्मक वस्तुओं की दूकान पर अर्थपूर्ण चीज़ों की खरीद-फ़रोख़्त होती है। दूकान का दरवाज़ा 'जमाने' पर खुलता है जहाँ मोटर-गाड़ियाँ चलती हैं, आवाज़ें धूल की तरह उड़ती हैं, लोग शोर में चलते हुए सड़क पार करते हैं, धूल बेआवाज़ धुएँ में घुल जाती है। एण्टीक की दूकान के काँच से ज़माना दिखायी पड़ता है। कभी दरवाज़ा खुलता है, कभी बन्द होता है।

एण्टीक की दूकान के काँच से...



तुम ज़माने के न जाने किस रेशे की तरह दूकान में प्रवेश करती हो। जीने के बोझ से थके तुम्हारे चेहरे पर न ग़रीबी का रोष है, न अपनी मजबूरी को बेचने की शर्म। तुम न गिड़गिड़ाती हो जैसा कि तुम्हें इस जैसी दूकान में अपनी पुरानी चीज़ों को बेचते वक़्त करना चाहिए, न तुम दबाव डालती हो। तुम जब भी काँच के भीतर आती हो, खुद को हमेशा ही दूकान की देहरी पर छोड़ कर आती हो। तुम उससे बात करते वक़्त हमेशा देहरी पर खुद से मिलने का इन्तज़ार करती हो। लेकिन शायद वह समझता है कि तुम उससे ही मिलने आयी हो। यह तो सिर्फ़ तुम जानती हो कि तुम तो महज़ उससे विदा लेने आती हो। अपना *लौटना* उसके पास छोड़ने।

वह काउण्टर के पीछे खड़ा है और उस दिन तुम भगवान की प्रतिमा ले आती हो। वह खरीद लेता है लेकिन जवाब भी देता है :

'भगवान के लिए कोई जगह नहीं,'

और ठीक इसी क्षण तुम एक पुरानी वस्तु में, एक एण्टीक में रूपान्तरित हो जाती हो।



इस ज़माने ने भगवान के रहने की कोई ज़गह नहीं छोड़ी। इसने भगवान के होने के उन्माद में युद्ध किये, रक्तपात किया, बलात्कार किये, इसने वह सब किया जो उसके होने के उन्माद में किया जाता है। लेकिन अपनी सृष्टि पर इस हद तक कब्ज़ा जमा लिया कि उसके लिए कोई जगह नहीं बची। यहाँ सवाल मन्दिर का नहीं, मस्ज़िद का नहीं। वे तो बँधी हुई जगहें हैं। इस ज़माने ने इन जगहों पर तो अपना ध्यान एकाग्र किया लेकिन भगवान के लिए कोई जगह नहीं छोड़ी।

'यह फ़िल्म प्रेम की असम्भावना के बारे में है', मणि कौल ने कहीं कहा है। शायद इसमें यह जोड़ने की ज़रुरत है कि यह अलौकिक के अभाव की छाया में प्रेम की असम्भावना के बारे में है। जिस ज़माने में अलौकिक नहीं वहाँ प्रेम कैसा! बेघर ईश्वर के ज़माने में प्रेम के टूटते तिलिस्म पर काँपती हुई एक नज़र।





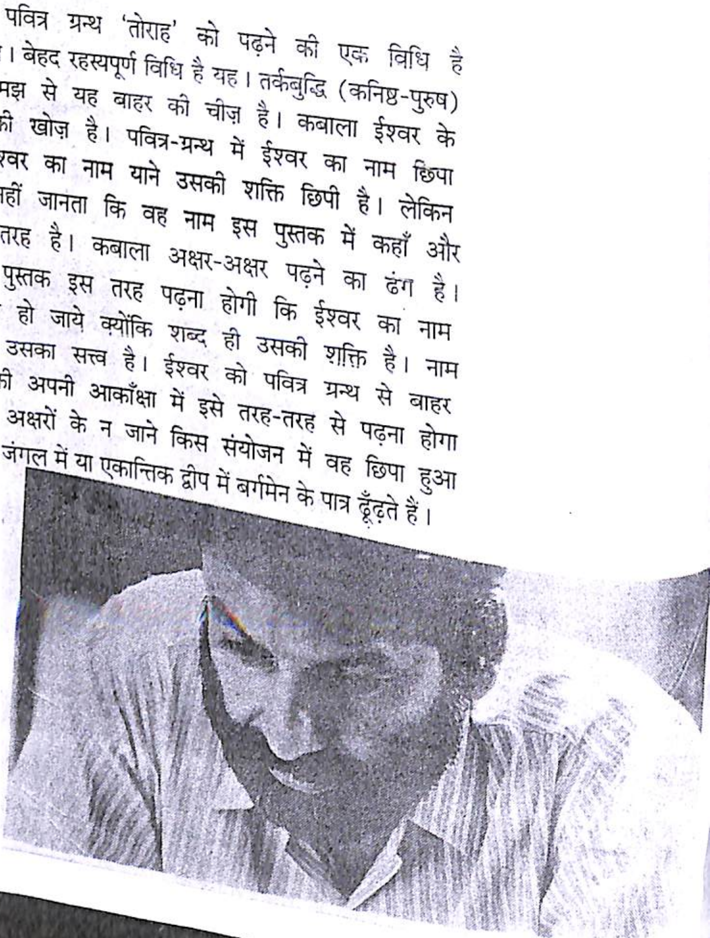


बर्गमैन की फ़िल्मों के पात्र अक़्सर ईश्वर की खोज में भटकते हैं। **सेवेन्थ सील** का 'नाईट' हो या **लुकिंग थ्रू द ग्लास डार्कली** की बावली, दोनों ही ईश्वर के दर्शन को व्याकुल हैं। व्याकुल हैं क्योंकि बग़ैर अलौकिक के जीवन के तमाम कर्म निरर्थक हैं लेकिन दूसरी ओर यह भी सच है कि बिना ईश्वर को देखे उस पर विश्वास कैसे किया जाये क्योंकि 'विश्वास करना पीड़ा में वास करना है।' बर्गमैन के पात्र ईश्वर की खोज में भटकते हैं, पाप और पुण्य से परे किसी अन्धकार में छिपे मन्दिर में वास करते ईश्वर की खोज में वे भटकते हैं।





यहूदी पवित्र ग्रन्थ 'तोराह' को पढ़ने की एक विधि है कबाला। बेहद रहस्यपूर्ण विधि है यह। तर्कबुद्धि (कनिष्ठ-पुरुष) की समझ से यह बाहर की चीज़ है। कबाला ईश्वर के नाम की खोज़ है। पवित्र-ग्रन्थ में ईश्वर का नाम छिपा है। ईश्वर का नाम याने उसकी शक्ति छिपी है। लेकिन कोई नहीं जानता कि वह नाम इस पुस्तक में कहाँ और किस तरह है। कबाला अक्षर-अक्षर पढ़ने का ढंग है। पवित्र पुस्तक इस तरह पढ़ना होगी कि ईश्वर का नाम उच्चरित हो जाये क्योंकि शब्द ही उसकी शक्ति है। नाम में ही उसका सत्त्व है। ईश्वर को पवित्र ग्रन्थ से बाहर लाने की अपनी आकाँक्षा में इसे तरह-तरह से पढ़ना होगा क्योंकि अक्षरों के न जाने किस संयोजन में वह छिपा हुआ है जिसे जंगल में या एकान्तिक द्वीप में बर्गमैन के पात्र ढूँढ़ते हैं।



'.... सारी परम्पराओं ने यही समझा कि स्पेस की व्यवस्था से अनुभव पैदा होता है चूँकि स्पेस को टाईम से अलग नहीं किया जा सकता, इसलिए उस व्यवस्थित स्पेस का लक्ष्य काल का अनुभव सही समझा गया। किन्तु ऐसे अनुभव में एक परेशानी मौजूद है : यह अच्छे-बुरे से अलग नहीं किया जा सकता। अच्छा-बुरा दरअसल कोई अनुभव नहीं, धारणा है। समय-समय पर बदलनी पड़ती है इसलिए स्पेस से जनित काल का अनुभव वास्तव में धार्मिक अनुभव है। धारणाओं के स्पन्दन को अनुभव कहना ग़लत होगा। जैसे मन्दिर, चर्च या मस्ज़िद एक विभाजित स्पेस हैं और इसे हम पवित्र स्पेस कह डालते हैं। ज़ाहिर है जो इसके बाहर है वह प्रोफेन (अपवित्र) स्पेस होगी ही। यदि हम एक ऐसी स्पेस की कल्पना करना चाहते हैं जिसके कोई विभाजन न हों, एक लगातार स्पेस जो अन्त तक टूटे नहीं तो ऐसी काल्पनिक स्पेस की व्यवस्था कैसी की जाये? उसमें, जैसे, अनुपात क्या ढूँढें?...'

- अपने एक पत्र में मणि कौल



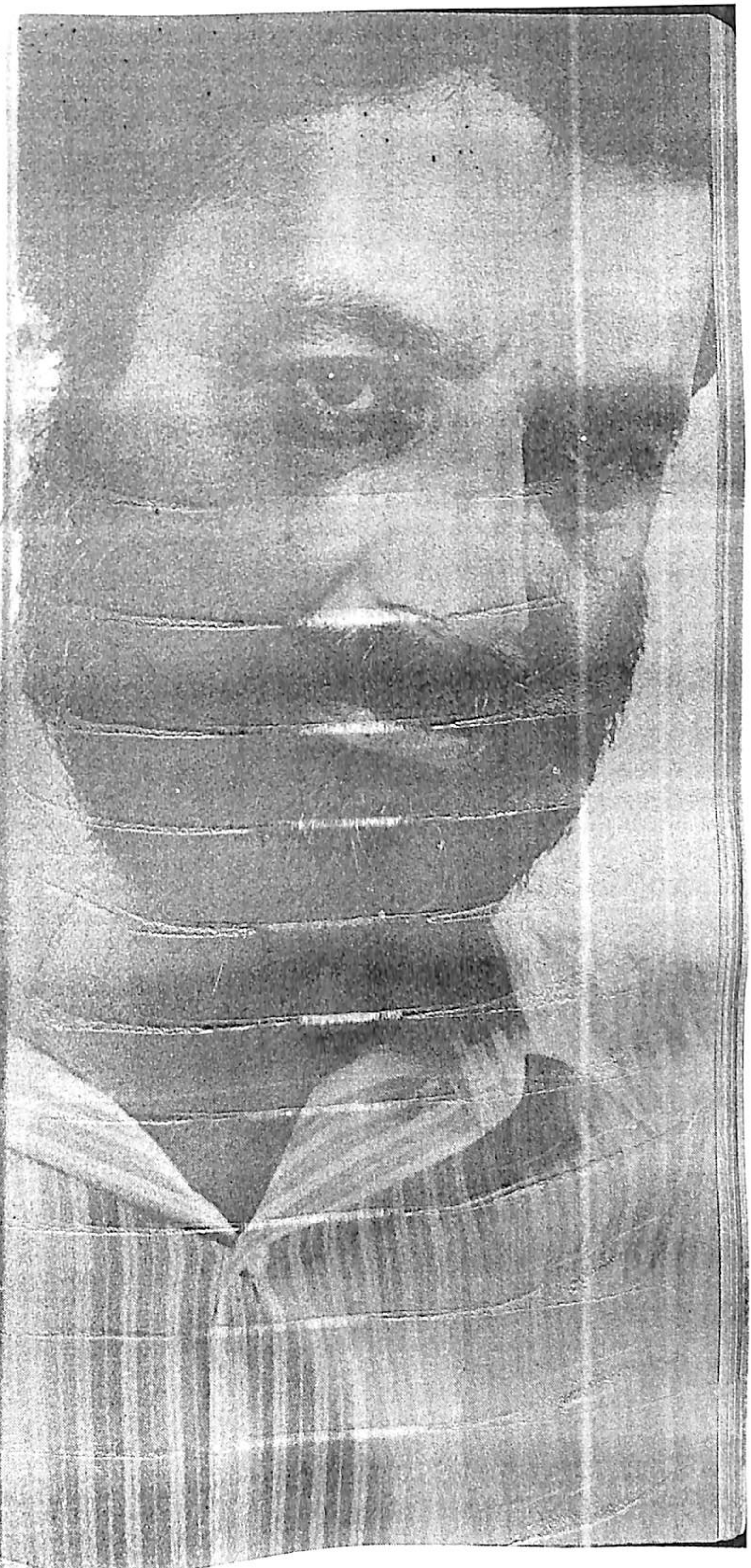
अनुभव शब्द में मूल धातु है *भव*। भव यानी होना। *होने* का आभास है अनुभव। होने की हद कोई नहीं। उसका विस्तार निरुपम है। लेकिन आभास! वह सीमित है। हम अपने-अपने ढंग से इस *होने* को महसूस करते हैं। लेकिन उसका ऐसा आभास कैसे हो जिस पर उसे महसूस करने के हमारे *ढंग* की ज़रा भी छाया न पड़े? हेडेगर की दृष्टि में ऐसी कोई ी स्थिति नहीं है जहाँ *होने* की असीमता का स्पन्दन महसूस हो सके। हर साधना में हमेशा ही कुछ छूट जाता रहेगा। इसलिए *होना* उनके लिए एक प्रश्नचिह्न में बदल जाता है। 'होने का सत्त्व एक प्रश्न के आकार का है।' इसी प्रश्न का उत्तर बर्गमेन ढूँढते हैं: ईश्वर का दर्शन यही है। मणि कौल कबीर के समाधान के निकट हैं:

हद को तापै औलिया बेहद तापै पीर।
हद बेहद दोनों तापै ताको कहो कबीर।।

अनुभव न हद के स्वीकार में है न *बेहद* की खोज़ में। स्पेस का ही एक ऐसा विन्यास करना होगा जिससे हद और बेहद दोनों ही सध जाएँ। स्पेस को ऐसे गढ़ना होगा जिससे (काल का) अनुभव हो जाये। मणि के लिए भगवान न अँधेरे में खोया है, न प्रश्नचिह्न है।







नज़र के सारे शॉट्स को एक-दूसरे से सहजता से अलग किया जा सकता है। उनकी तुलना केलिडायोस्कोप की चूड़ियों के टुकड़ों से करनी होगी (क्या कभी ये टुकड़े तुम्हारी उस बाँह पर खनखनाते थे जो *सिरहाने* धरे सो जाती है?) कहाँ है वह केलिडायोस्कोप जिसमें ये टुकड़े निरन्तर अपनी जगहें बदलते हैं? नज़र! हमारी नज़र!! जैसे कोई चुपचाप हमारे देखने में कुछ जादुई दृश्य डाल जाए, जो हमारे देखने में निरन्तर अपनी जगहें बदलते रहें।

क्या इस फ़िल्म को अक्षर-अक्षर पढ़ना होगा?

वे निरन्तर घूमते रहेंगे। वे निरन्तर हमारी नज़र में घूमते रहेंगे। नये-नये विन्यासों में: कभी पहले के बग़ल में छठवाँ आ खड़ा होगा, कभी अन्तिम के बाद पहला शॉट होगा। कभी तुम अपने मरने के बाद उसकी दूकान में आओगी और मैं तुम्हें खरीदने के लिए बेचैन हो उठूँगा। कभी तुम मेरे दोस्त के साथ बैठी बात कर रही होगी और उसके ठीक बाद तुम्हारा दुपट्टा तुम्हारे कंधे पर से सरक जायेगा।

चूड़ियों के टुकड़े चक्कर काटते हैं। न जाने किस विन्यास में *अनुभव* हो जाये।







तुम अपने प्रेम में अनुभव ढूँढती हो। तुम अपने विरह में अनुभव ढूँढती हो। तुम उसके साथ में अनुभव ढूँढती हो। कभी उसके दूर हो जाने में।





तुम, हाँ, तुम, राधा!



समय बतौर विषय परकता का कौतुक

मणिकौल की सिद्धेश्वरी पर एक टिप्पणी

अनूप सिंह



अपसारी, अभिसारी, समान्तर समयों के एक तीव्र गति से बढ़ते हुए और निरन्तर विस्तृत होते हुए जाल में समयों की एक अनंत शृंखला। समय का यह जाल— जिसके धागे सदियों से एक-दूसरे तक जाते रहे हैं, एक-दूसरे से द्विभाजित होते रहे हैं, एक-दूसरे को प्रतिच्छेदित करते रहे हैं, या एक-दूसरे को अनदेखा करते रहे हैं- प्रत्येक संभावना का आलिंगन करते हैं। (जॉर्ज लुई बोर्खेसः दि गार्डन ऑव् फॉर्किंग पाथ्स)

मणिकौल के सिनेमा के प्रत्येक शॉट का अनुभव अब तक, उस स्थान के अनुभव से, जिसे हम घर कहते हैं, एक अदम्य घनिष्ठता लिये हुए रहा है। वह स्थान, जिसे हम घर कहते हैं कोई निर्विघ्न आश्रय नहीं है, दृष्टि से स्पर्शित होकर दीवारें विवर्तित होती रहती हैं। प्रेक्षी की प्रेक्ष्य-विषयपरकता को विलोप की सीमा तक ले जाने के लिए प्रलोभित करती हैं। यहाँ शब्द और साथ ही वस्तु; विवरण के घरेलु स्पेस में एंद्रियकृत वास्तविक रहने के बनिस्बत शॉट के स्थान में निरंतर एक अन्य पहलू जीने के लिए उन्मुख होते हैं— किन्तु अभी तक उनकी कोई अन्य पहचान नहीं है। इस प्रकार, वास्तविक जीवन में न रहते हुए वस्तु और शब्द एक घिरे हुए स्पेस में विश्रामदायक घर की स्थिति प्राप्त करने की अभिलाषा करते हैं, जैसा कि विषयपरकता करती है। घिरा हुआ, किन्तु अस्थिर। प्रेक्ष्य किन्तु पकड़ में न आने वाला। पहचानने योग्य किन्तु परकीय होता है। यहाँ हमारे स्वप्नों का एक घर है।

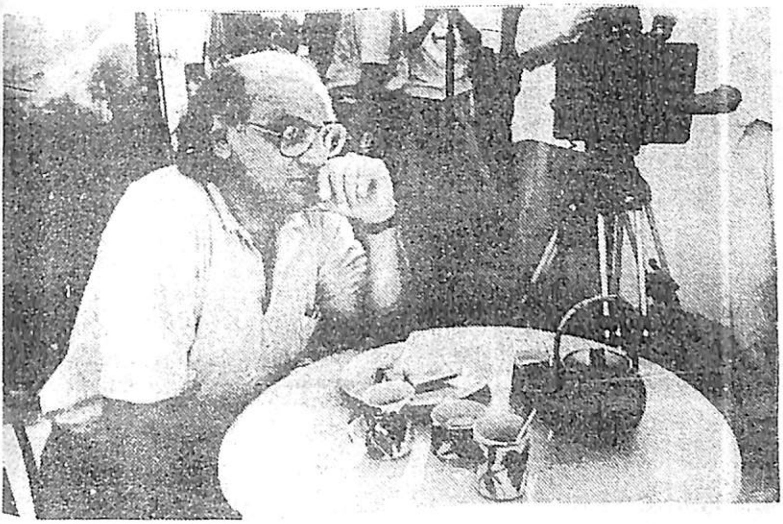
तथापि, **सिद्धेश्वरी** एक अतिक्रमण की कृति है। वह घर और स्वप्न, दोनों का ही, अतिक्रमण करती है। एक सूफ़ी दरवेश की तरह यह फ़िल्म निर्वासन के जीवन का समारोह करती है, जिसे कोई भी स्थान नहीं पकड़े रखता, कोई भी सत्य घेरे नहीं रखता, जिसकी कोई भी पहचान अंतिम नहीं है। यहाँ एक देहरियों का सिनेमा है। जिस स्पेस (शॉट के) ने अब तक हमें आनंद में रखा वह स्पेस अकस्मात् रहने योग्य नहीं रह जाता।

सिद्धेश्वरी में हमं किसी शॉट का अनुभव उसी तरह करते हैं जिस तरह बनारस की देहरियों के वे स्पेस, जो कि भीतर भी हैं और बाहर भी— घर और गंगा के बीच फैली हुई देहरियों का, एक-दूसरे से द्विभाजित होती हुई, दूर जाकर मुड़ती हुई और अपने-आप में मुड़ती हुई ख़ालीपन में भँवराने-वाली गलियों के जैसे शॉट, गंगा के नीचे से सूने छज्जों की ओर बढ़ती हुई सीढ़ियों जैसे शॉट, घेरे से उमड़ते हुए आकाश के छज्जों में भटकने वाले शॉट।

सिद्धेश्वरी के गायन के शॉट जैसा शॉट ऐसे किसी भी फ्रेम को आप्लावित कर देता है, जो उसकी भंगिमात्मक रेखाओं को एकल अर्थ में बाँधने की कोशिश करता हैं, किसी भी पूर्वनिश्चित साकल्य को, चाहे वह राग हो या भाव हो, चाहे वह जीवनी हो या मिथक हो, आप्लावित कर देता है।

यहाँ वह फ्रेम, जो कि स्थानीकरण करता है, अर्थात् जो चेहरे, भंगिमा, वस्तु प्रकृति को पौरोहित्यिक क्रम में नियत करता है, शॉट की रेखा द्वारा भंजित हो जाता है; अभिलाषा की तरह उसकी लय चेहरे और प्रकृति के भीतर/चेहरे और प्रकृति के ज़रिये स्पंदित होती है और उन्हें स्थान के घेरे से मुक्त कर देती है; उन्हें गति के निषिद्ध संभाषण में मुक्त छोड़ देती है, जो कि सतत् विषयपरकता को टालता है; उन्हें समय के संभाषण में मुक्त छोड़ देती है।

भारतीय शास्त्रीय संगीत में एक निश्चित परम्परा है, जो कि समय के प्रत्यय से आरंभ होती है, जिसमें यह विश्वास किया जाता है कि समय की विभिन्न रेखाओं के संबंधों की संरचना विनिर्दिष्ट होती है— उदाहरणार्थ, यों कहें कि जो स्थायों के रूप में रण के मुख भाग को विसंबद्ध करती हैं। अतः ऐसी परम्परा का निष्पादन इन स्थायों की युक्ति और क्रमपरिवृत्ति से अधिक कुछ भी नहीं है, जो कि समय की इस फ़िल्म में अनुपस्थिति, निश्चय ही, स्वयं सिद्धेश्वरी की अनुपस्थिति है, जिन्होंने बहुधा कहा कि उन्होंने नहीं जाना कि कौन गा रहा था। यह अनुपस्थिति अभीप्सित वस्तु पाने का एक अवसर है, जो कि गायिका को भी और अभिनेत्री **(मीता वशिष्ठ)** को भी सिद्धेश्वरी का अभिनय करने देता है। अभिनेत्री की भंगिमा और मुद्रा किसी भी ऐसे वास्तविक प्रतिमान द्वारा आबद्ध नहीं है जिसके साथ उनका तादात्म्य स्थापित किया जा सके। प्रत्येक भंगिमा एक आशु-क्रिया है, जो अनुपस्थिति में विस्तारित होती है, और चूँकि अनुपस्थिति का कोई इतिहास नहीं होता, इसलिए वह कोई भी ऐसा प्रतिमान प्रस्तुत नहीं कर सकती जिसे अभिनेत्री प्रतिरूपित कर सके। इसलिए वह केवल अभिनय कर सकती है। इस फ़िल्म में हम अभिनय की प्रामाणिकता को, दीनता को विनयन से, समारोह को नृत्य और



संगीत से जोड़ने वाली सहज गतियों को अस्वीकार करने की इस अभिनेत्री की अद्भुत क्षमता में साकार पाते हैं। संकल्पना को निश्चित करने वाली/समय की संकल्पना द्वारा निश्चित होने वाली विषम सीमाओं को एक एकार्थक संबंध में स्थानीकृत करते हैं। सिद्धेश्वरी का ठुमरी गायन अभिगृहीत संकल्पना के सभी प्रत्ययों को प्रश्नांकित कर देता है। यदि पहला प्रत्यय उपस्थिति और एकान्विति के रूप में स्व के प्रदर्शन का सूत्रीकरण करता है तो दूसरा प्रत्यय, वस्तुतः, सूत्रीकरण, प्रदर्शन और स्व को विनिर्मित कर देता है। रेखाएँ अकस्मात् अपने-आप को एक-दूसरे से कटी हुई, पृथक हुई पाती हैं। प्रत्येक रेखा एक अनुपस्थिति में प्रवेश करती है। संरचना की प्रत्येक रेखा उस निषेध को भेद जाती है, जो कि अभिनेत्री को भी और गायिका को भी अपनी स्वयं की काया, लैंगिकता और अभिलाषा की प्रत्यक्ष अभिगम्यता से वंचित कर देता है।

जैसा कि एक अच्छे कलाकार को करना होता है, उस संधि रेखा को अस्वीकार करते हुए, गायिका के व्यवसाय और ठुमरी के अतीत से संबद्ध लज्जा और दोष को विपर्यस्त रूप में एकीकृत करने वाली शक्ति को अस्वीकार करते हुए सिद्धेश्वरी उन कुछ प्रथम कलाकारों में से एक थीं, जिसने उसकी अभिलाषा की विच्छेदक रेखाओं के बीच की सामाजिक रूप से प्रतिषिद्ध कड़ियों का समारोह करने वाली अनुपस्थिति को मुखर किया। अनुपस्थिति के लोक में पहुँचकर उसका स्वर दूसरों की दृष्टि से उसके शरीर का, नृत्य कक्षों से उसकी लैंगिकता का और कभी भी उल्लेख न किये गये सज्जा कक्षों से उसके चरित्रदूषण का और मौन में छिपी अभिलाषा का पुनर्विनियोग करता है। स्वयं को ठुमरी के विस्थापित धर्मशास्त्र से मुक्त करते हुए, जिसमें प्रश्रयदाता को देवता माना जाता है, वे गलियों में घूम-फिर सकती

हैं, घाटों पर और विभिन्न मंदिरों में गा सकती है, पवित्र नदी में पाप विमोचन के लिए नहीं बल्कि स्नान करने के लिए प्रवेश कर सकती हैं और अंततः कोई श्रद्धा लिये कुछ नहीं बल्कि अपने समय की सतत प्रजनक परंपराओं को जीने और उनका सम्मान करने के लिए किसी देवता का दर्शन कर सकती हैं। सिद्धेश्वरी की रेखाएँ विभिन्न अनुपस्थितियों, उपस्थितियों से होकर गुज़रती हुई बाहरी समय में प्रवेश करती हैं। अभिनेत्री की भाँति, कैमरे की गति किसी भी परिवेष्ठनकारी विषयपरकता से बँधी हुई नहीं है। कैमरे को अभिनेता का पीछा करने या वर्णनात्मक रूप से आवेशित किसी वस्तु पर रूक जाने की उसकी पारंपरिक यथार्थचित्रणात्मक प्रवृत्ति से वंचित करते हुए, गति की रेखा, विषयपरकता को सतत रूप से टालते हुए, अभिनेत्री द्वारा सिद्धेश्वरी की विभिन्न प्रस्तुतियों से होकर गुज़रती है: जैसे बचपन की कहानी में जासूस के रूप में, उर्वशी के रूप में, गंगा के रूप में, छात्रा के रूप में, वयस्क रूप में, कलाकार सिद्धेश्वरी के रूप में और अंततः प्रतिमा-निर्मात्री सिद्धेश्वरी का अभिनय करने वाली अभिनेत्री के रूप में। कैमरा नृत्य कक्ष की बहुरंगी साज-सज्जा, झाड़फानूसों, रेशमी गिलाफ़ चढ़े तकियों, नौकाओं पर संगीतज्ञों के बैठने के लिए बिछी हुई चाँदनी-सी सफेद चादरों, बनारसी साड़ियों और अनुष्ठानों, आँगनों के उज्जवल स्वरूप, दीवारों और सीढ़ियों, निष्प्राण मरुस्थल और गंगा के किनारे बैठे हुए गिद्धों पर से घूमता हुआ वास्तविक, गृहातुर, मिथकीकृत सिद्धेश्वरी से होता हुआ अंततः टेलीविज़न के टिमटिमाते बिंदुओं में विगत और वर्तमान, यथा-अनुपस्थिति और कल्पित प्रतिमा और फ़ोटोग्राफ़ की परछाइयों में यथा उपस्थित विगत के बीच की प्रतिषिद्ध कामचलाऊ कड़ियों का निर्माण करता है।

अनुवाद: योगेश्वर रामपल्लीवार

फ़िगर्स ऑव् थॉट

एलेन ट्विग



पहले यह एक कल्पना भर थी, बस एक स्वप्न था। फिर शुरू हुआ इस कल्पना, इस स्वप्न को सिनेमाई रूपाकार देने की लंबी और कष्टसाध्य प्रक्रिया। और अंततः फ़िल्म तैयार हुई— हमारे सर्वाधिक रोचक तीन समकालीन चित्रकारों का जीवंत और ऊर्जावान व्यक्ति-चित्र **भूपेन खक्खर, नलिनी मलानी** और **विवान सुन्दरम्**। इस प्रामाणिक कृति के लेखक हैं— **अरुण खोपकर।**

फ़िगर्स आवॅ थॉट फ़िल्म के निर्माण में एक वर्ष से भी अधिक समय लगा। विदेश मंत्रालय के प्रचार विभाग के तत्वावधान में बनी और संयुक्त सचिव आफ़ताब सेठ की दिमाग़ी उपज इस फ़िल्म के निर्माण में अत्यधिक एकाग्रता, शोध और नियोजन आवश्यक था। खोपकर का मानना है, 'आर्थिक दृष्टि से हमें कुछ नहीं मिला, पर मैं समझता हूँ कि शायद मेरे लिए फ़िल्म बना सकने का यही एकमात्र तरीक़ा था।'

44 वर्षीय निरभिमान फ़िल्म निर्माता का कथन है, 'मैं इन कलाकारों को एक अरसे से जानता हूँ। मुझे लगा कि मैं भी उनकी समस्याओं और चिंताओं का साझीदार हूँ। वो एक साथ भारतीय और अंतर्राष्ट्रीय परम्पराओं के अंग होने की समस्या का सामना कर रहे हैं। इससे भी महत्वपूर्ण बात तो यह है कि उनकी तरह मैं भी मानव आकृति और चित्रकथा की वर्णनात्मक परंपरा में रुचि रखता हूँ।'

वे बात को ज़ारी रखते हुए कहते हैं, 'भारतीय वर्णनात्मक परंपरा पाश्चात्य परंपरा से बिल्कुल अलग है। प्रकृति से उपाख्यानात्मक हमारी परंपरा पात्रों के मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद से कम सरोकार रखती है और काल व स्पेस की अवधारणा को अधिक महत्व देती है। मुझे लगा कि इस परंपरा के सिनेमाई पर्याय खोजना संभव है।'

फ़िल्म में प्रकाश आंशिक रूप से *इम्प्रेशनिज़्म* से प्रेरित है। हम जानते हैं दिन में चार अलग-अलग वक़्त देखी गयी इमारत चार इमारतें हैं। ठीक वैसे ही जैसे चार बार चित्रित कोई इमारत चार अलग-अलग इमारतों के चित्रों में बदल जाती है। इम्प्रेशनिज़्म काल की कई दृष्टियों के संयोजन को अभिव्यक्त करने में बेजोड़ है, जैसे क्यूबिज़्म स्पेस की कई दृष्टियों को संघटित करता है। निर्देशक ने कैनवास पर भी वही तर्क लागू किया है — और प्रकाश व कैनवास के बीच की यह अंतर्क्रिया फ़िल्म की प्रकाश-व्यवस्था का एक स्रोत है।

खोपकर स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं, 'जब मैं कैनवास को लेता हूँ तो कैनवास का भौतिक तत्व एक तरह से महत्वपूर्ण लगता है — संरचना और कूची का रंग विन्यास। पर इससे भी महत्वपूर्ण है वह बिम्ब जो कैनवास मेरे मस्तिष्क में निर्मित करता है। और इसी बिम्ब से मैं शुरू कर रहा हूँ, मैं बिम्ब से प्रकाश की ओर काम कर रहा हूँ।'

यह एक अस्वाभाविक शैली है, पर इससे भी अधिक अस्वाभाविक है प्रकाश व ध्वनि-प्रभाव के माध्यम से चित्रों की व्याख्या करने का प्रयास। कलाकारों पर बनी अधिकांश फ़िल्में कलाकार पर केंद्रित होती हैं जो अपने कृतित्व के बारे में बताता या बताती है। खोपकर स्वीकार करते हैं ''यहाँ-वहाँ मैंने कलाकार के शब्दों का उपयोग किया है पर वह एक-एक के संबंध में नहीं है। शब्दों का उद्देश्य उनके विचारों और चिंताओं को अभिव्यक्ति प्रदान करना था।'

वास्तव में, खोपकर ने फ़िल्म में शब्दों के साथ प्रयोग किये हैं। आख़िरी हिस्सा — सुन्दरम् वाला — पूरी तरह से निर्मित है। 'हमने सुन्दरम् से लंबी भेंटवार्ता रिकार्ड की थी। कुछ तो औपचारिक थी, और कैमरे से शूट की गयी थी, पर अधिकांश बातचीत बिना कैमरे के रिकार्ड हुई थी। मेरा यह प्रयास था कि कलाकार की चेतना के प्रवाह को उभारूँ। पर कोई भी उस अंतरंग अपराध स्वीकारोक्ति की शैली में बातचीत नहीं कर सकता।''

यह जानना काफी रोचक है कि किस तरह खोपकर इसे संभव बना सके। एक समय, इंटरव्यू को सुनते समय उन्होंने पाया कि उन्होंने आवाज़ ही चालू नहीं की है और जब चालू किया तो उन्होंने सुना 'साइन्ज़ ऑव् फ़ायर' बजाय 'आई पेन्टेड़ साइन्ज़ ऑव् फायर इन सो एंड सो इयर'।

खोपकर रोमांचित हो जाते हैं, 'मुझे याद है मैंने अपनी यूनिट से कहा था कि बस।' मैंने उन्हें कर्ता हटा देने को कहा क्योंकि अंदरूनी भाषा में कोई कर्ता होता ही नहीं है। अगर आपने कुछ किया है तो आप स्वयं से यह नहीं कहते 'आई डिड इट' बल्कि कहते हैं 'डिड इट' क्योंकि आप जानते हैं यह आपने किया है। फिर हमने पूरे संवादों में से महत्वपूर्ण शब्द और वाक्यांश चुने, सारे विशेषण हटा





दिये और संपादन मेज़ पर ही एक तरह का लयबद्ध गद्य तैयार कर डाला। इस संपूर्ण प्रक्रिया में अत्यधिक समय लगा। आठ घंटे के श्रम के पश्चात् हमारे पास लगभग 15 या 20 सेकंड में बोले शब्द होते थे।

कथकली में जिस तरह से पात्र मंच पर अवतरित होते हैं, वह खोपकर को सदा से ही चित्ताकर्षक प्रतीत हुआ है। नृत्य एक पर्दे से प्रारंभ होता है और इसके पीछे से एक राक्षसी पात्र प्रकट होता है। पर्दे को दो व्यक्ति थामे रहते हैं। पर्दे के पीछे कुछ देर तक की मनोरंजक लुकाछिपी के पश्चात पात्र अंततः सामने आता है। एक निजी निवास पर काँच की भित्ति पर तीनों कलाकारों को काम करते देखते हुए खोपकर ने महसूस किया कि वह कथकली की 'पर्दे' की परंपरा का प्रयोग कर सकते हैं। खोपकर का कथन है, 'जब आप किसी चीज़ की सिनेमा में नक़ल करते हैं तब बड़ा मूर्खतापूर्ण लगता है। पर यदि आप सिर्फ़ सिद्धांत लेते हैं और फिर इसका सिनेमाई प्रयोग करते हैं, तो यह कारगार साबित होता है।'

फ़िल्म के शुरू के दृश्य में कलाकार काँच की दीवार के पीछे से फ्रेम में आते हैं और उस पर अपने नाम लिखते हैं। इसके बाद खक्खड़ एक चित्रित पट्टी लेकर अंदर आता है। वे इसे ऊपर उठाते हैं, बाहर जाते हैं और खक्खर नजर आते हैं। दूसरे भाग में, नलिनी मलानी काँच के पीछे से ही प्रस्तुत होती हैं। प्रकाश दूसरे भाग पर है — कैमरा घूमता है और फिर, अंततः वह प्रकट होती हैं। खोपकर को मालूम था कि काँच के प्रतीक को दुबारा बाधा के रूप में प्रयुक्त करना मशीनी होगा। तीसरे भाग में, सुन्दरम् काँच के सामने है, प्रकाश उस पर है और हम काँच में अपने बनाये चित्र को देखते हुए उसका प्रतिबिंब देखते हैं। प्रकाश धीरे-धीरे लुप्त हो जाता है और प्रतिबिंब जादुई प्रभाव से ग़ायब हो जाता है। पर खोपकर अब भी 'पर्दे' की विषयवस्तु का प्रयोग कर रहे हैं।

ज़ाहिर है ये प्रभाव रातों-रात हासिल नहीं हुए हैं। खोपकर और उनके यूनिट के लिए यह एक उत्तेजक और लंबी यात्रा रही, जिसमें उन्होंने 85 संपादन मेज़ों पर हर रोज़ दस घंटे काम किया और 45 शूटिंग शिफ्ट कीं। उन्होंने हर कलाकार की 200 स्लाइड से शुरू किया और अंततः प्रत्येक चित्रकार की 50 स्लाइड का चयन किया। इन स्लाइड का उपयोग करते हुए खोपकर ने प्रकाश और शॉट विभक्तीकरण का एक अद्भुत संयोजन किया है, जो इस अद्वितीय फ़िल्म की विशेषता है।

'हमने बम्बई, दिल्ली और बड़ौदा में कैनवास शूट किया; जिसके बाद हमें एक निश्चित वर्णनात्मकता की ओर बढ़ना पड़ा जो रेखीय नहीं हो सकती पर जिसे रंगीन वृतान्त होना था।' खोपकर इस धारणा को स्पष्ट करने के लिए खक्खर के भाग की व्याख्या करते हैं। यह भाग ज़रा चटख़दार रंगों में प्रारंभ होता है, फिर धीरे-धीरे मूलतः नीले प्रभाग में परिवर्तित हो जाता है, फिर ज़रा स्याह, संजीदा रंगों में, फिर अँधेरे में। रोशनियाँ कैनवास पर घूमती हैं — लगभग एक भविष्योद्घोषी निरूपण की तरह — जिसके पश्चात् कैनवास का सफ़ेद फूलों का शॉट है, जिसके तत्काल बाद तीन जलरंगों के चित्र पर्दे पर आते हैं जो सफ़ेद रंग की गहराती मात्रा को प्रदर्शित करते हैं। इसके बाद कैमरा फूलों वाले चित्र पर लौट आता है और शॉट

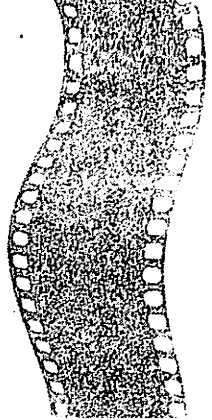
के अंत में, हम श्वेतकेशी व श्वेतवस्त्रधारी खक्खर को सफ़ेद पृष्ठभूमि में खड़े रखते हैं। 'हमने पहले भड़कीले रंगों का इस्तेमाल किया और अंत में उन्हें सफ़ेद रंग में रूपांतरित किया है, जो एक चाक्षुष मौन है। और फिर हम कोरी स्लेट लेकर अगले चित्रकार की ओर बढ़ते हैं।''

फ़ारर्स ऑफ् थॉट की एक सम्मोहक लय है जिसमें ध्वनि प्रभावों का प्रभावी योगदान है। कई बार क्लिक कट्स और दीर्घ ध्वनियाँ हैं ताकि गति न तो कट्स की तरह तीव्र हो न ही ध्वनियों की तरह दीर्घ। बहुधा, ध्वनि बहुत स्पर्शी है — एक शॉट में सफ़ेद बादलों को पेड़ के टूटने और गिरने की ध्वनि के साथ दिखाया गया है। ज़ाहिर है कि ध्वनि का उपयोग सिर्फ़ प्रभाव के लिए नहीं किया गया है, यह तो दृश्य से उत्पन्न होती है। 'भूपेन के भाग में भड़कीला मंदिर अपने आप में भयानक है पर नाव और समुद्र की आवाज़ के साथ मंदिर का नीलापन इतना भयानक प्रतीत नहीं होता। ध्वनि का प्रयोग इस तरह किया गया है कि एक समानांतर घटना निर्मित हो सके' खोपकर कहते हैं।

इस संदर्भ में शेरगिल परिवार के सुन्दरम् का चित्र है। कैनवास पर चित्रकार अमृता है, विवान की माँ, नाना और नानी हैं और नन्हा विवान चटख़े हुए शीशे में प्रतिबिंबित है। साथ में ऊँची एड़ी के क़दमों और एक स्त्री की भारी आवाज़ आती है जो विवान को बुलाती है और फिर गूँजते क़दमों की आवाज। खोपकर कहते हैं, 'एक समानांतर घटना निर्मित की गयी है। जब दो घटनाओं का टकराव होता है, एक ध्वनि है, दूसरा चित्र है। वे कुछ अलग, कुछ नया निर्मित करते हैं। एक अर्थ में, ध्वनि का लाक्षणिक प्रयोग किया गया है। यह एक ऐसा अंतर्संबंध है जो आसानी से समझ में नहीं आता।'



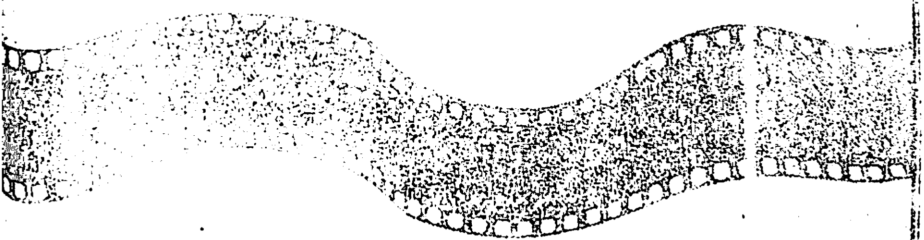
जिस तरह से खोपकर ने तीन विभिन्न शैलियों के चित्रकारों पर एक एकीकृत और पूर्ण फ़िल्म बनायी है वह फ़िल्म की श्रेष्ठता और महत्व का सूचक है। छायाकार पीयूष शाह का कार्य अद्भुत था। जैसा खोपकर कहते हैं, "यह एक ऐसी फ़िल्म है जहाँ शॉट कहीं से भी शिफ्ट होकर कहीं भी जा सकता है। इसलिए जब हम संपादन कर रहे थे तब हमें निगेटिव की सघनता को ध्यान में रखना पड़ता था। यदि निगेटिव की सघनता शॉट से शॉट के बीच तेज़ी से बदलती है, तो कट् प्रविष्ट हो जाता है।' इसलिए इस तथ्य के बावजूद कि खोपकर ने बम्बई, दिल्ली, बड़ौदा और कसौली में लगभग 50 विभिन्न स्थानों पर फ़िल्म शूट की है, निगेटिव में वह समानुरूप सघनता है जिससे एक शॉट के लिए एक बिंदु से दूसरे बिंदु तक पहुँचना संभव है। खोपकर बात बढ़ाते हुये कहते हैं, 'यह काफी ख़तरे का प्रयोग था क्योंकि यह तीन विख्यात चित्रकारों के साथ किया गया था। यदि प्रकाश व्यवस्था तटस्थ रहती तो यह अधिक आसान और सुरक्षित था क्योंकि तब हर कोई कैनवास को पहचान सकता है। पर जब आप छाया डालते हैं, चलित बत्तियों, कलर फ़िल्टर्स और डिमर्स का प्रयोग करते हैं तो आपको यह सुनिश्चित कर लेना चाहिये कि आपकी कैनवास पर बहुत अच्छी पकड़ है।' जो निस्संदेह खोपकर की है। संबद्ध चित्रकारों ने इस फ़िल्म को काफी सराहा है। सुंदरम का तो यहाँ तक विचार है कि वह बदलती प्रकाश-व्यवस्था में अपने शो के लिये पीयूष शाह की सहायता लें। खोपकर ने यकीनन चित्रकला और फ़िल्म के बीच संवाद का श्रीगणेश कर दिया है। यह सिर्फ इसलिये संभव हो सका है क्योंकि खोपकर परम पूर्णतावादी हैं। उनका विश्वास है कि सिनेमा की सीमा नहीं होती। कैमरे, शॉट, रंग-सामंजस्य, संतुलन और प्रकाश सब कुछ एक आत्म क्रियान्वित काल्पनिक गहनता से किया गया है। आज खोपकर कह सकते हैं कि उन्होंने तीस मिनट की फ़िल्म पर एक साथ काम किया है और अंतर्राष्ट्रीय स्तर की कृति निर्मित की है। वह और उनकी टीम इस फ़िल्म से चाहते तो और अधिक कमा सकते थे। पर निश्चित रूप से यह सवाल था कि दीर्घकाल में क्या अधिक महत्वपूर्ण है? मुद्दा यह नहीं है कि फ़िल्म कल्पना-साहित्य की कृति है या एक वृत्तचित्र है या यह कि यह अच्छी या बुरी है। मुद्दा यह है कि **फ़िगर्स आवॅ थॉट** जैसे कोई फ़िल्म वास्तव में बनी है।



अनु : सुधीर दीक्षित

थोड़ा सा रूमानी हो जाएँ

प्रभुनाथ सिंह 'आज़मी'



देखते-सुनते जब कोई चीज़ सपनों को उकसाने लगे और हाथ-पाँव हताशा से बाहर होने लगें तभी लगता है कि देखना-सुनना एक आवश्यक कर्म है और देखा-सुना अच्छा है। **थोड़ा सा रूमानी हो जाएँ** देखना इसी तरह का अनुभव है और यह फ़िल्म इसी तरह दिखती और सुनाती है। *स्वप्रजीवी* होना एक तरह का अकारथ जीवन है और सपने न देखना निर्जीव होना है। इस भेद को **थोड़ा सा रूमानी हो जाएँ** जिस खूबसूरती से खोलती है उतनी ही खूबसूरती से यह एहसास भी दिलाती है कि सपने में सच ढूँढना नादानी है।

दरअसल सपने और सच के बीच नागफनी जैसा रिश्ता है। जिसके काँटे एक ओर को झुके और दबे रहते हैं। उसी दिशा में हाथ फेरो तो मुलायम वानस्पतिक स्पर्श का एहसास दिलाते हैं और यदि उसके विपरीत हाथ फेरो तो तीखी-चुभन नादानी के दण्ड सरीखी उफ़् निकलवा देती है। हम पहले सपने देखते हैं और सच करने और उसे हासिल करने के सच की ओर उल्टी दिशा में हाथ फेरने जैसा काम करने लगते हैं और फलतः टीसें भोगते हैं। **थोड़ा सा रूमानी हो जाएँ** हमें इस बचकानी हरकत से सावधान करती है तथा समझ को वयस्क बताती है। यह बताती है कि सच को इस तरह स्वीकार मत करो कि जीने-मरने के बीच ज़िंदगी बेमानी हो जाये। इस फ़िल्म का सौन्दर्य इस बात को साफ़ ही नहीं करता बल्कि यह भी बताता है सच, सपनों का उत्पादन नहीं उसका निर्माता है।

जीवन के वे सत्य साथ-साथ रहते ही हैं जिनके बिना जीवन संभव नहीं है। और यदि ये सस्ते ढंग से छेड़ता टीसता रहे तो उस दर्द में से ही इतनी उर्जा निकल आती है कि आदमी जी सकता है। मगर यही अनिष्टकारी सच, यदि व्यक्ति को रूढ़ अर्थों में निर्जीव बना दे तब उसके जीने का ढंग आदमी का न होकर यंत्र का हो जाता है, जिसमें काम तो संभव है पर सृजन नहीं। उत्कृष्टता तो होगी पर मौलिकता नहीं।



वास्तव में **थोड़ा सा रूमानी हो जाएँ** टेढ़े विषय पर एक आसान सी फ़िल्म है। कहानी के विषय में उपरोक्त विचारों को शामिल करना एक जटिल कार्य है और फ़िल्म के रूप में उसे प्रस्तुत करना टेढ़ा काम, पर **अमोल पालेकर** ने इसे जितनी आसानी और सफ़ाई से प्रस्तुत किया है वह तो और भी प्रशंसनीय है। ख़ासतौर से उस समय जब कि सीधा-सादा जीना भी **मोहाल** होता जा रहा हो, ज़िंदगी क़दम-क़दम पर असुविधाजनक कर्म महसूस होने लगी हो और उसे आसान बनाने की कोशिशें भी अंततः उलझनें ही छोड़तीं हों, सृजन के नाम पर आसान स्थितियों को जटिल बनाने की कोशिशें हो रही हों— **थोड़ा सा रूमानी हो जाएँ** जैसी प्रस्तुति सिनेमा के उद्देश्य को नया तथा सार्थक आयाम देती है।

वास्तव में **थोड़ा सा रूमानी हो जाएँ** चरित्रों की फ़िल्म न होकर स्थितियों की फ़िल्म है, इसलिए सारे निराश लोग एक जगह होकर भी चौंकाते नहीं कि ये लो इतने सारे हताश और नाउम्मीद लोग एक ही जगह, एक ही घर में कैसे? पात्रों की निराशा की अतिशंयता ठीक उसी प्रकार थोपी नहीं लगती जैसे सामान्य मुनाफ़ा कमाऊ फ़िल्मों की होती है क्योंकि उन चरित्रों की अतिशयता दर्शक के संवेदनात्मक शोषण के औज़ार के रूप में इस्तेमाल की गयी मक्कारी होती है, जबकि **थोड़ा सा रूमानी हो जाएँ** की निराशा की अतिशयता एक स्थिति का शून्य है, जिससे फ़िल्म जीवन के अर्थ तक चल कर स्थिति के मूल्य तक स्पष्ट होती है। इसलिए अनीता कँवर का असुन्दर लड़की होना तथा इस हद तक असुन्दर मान लेना कि केवल असुन्दर बचे, लड़की ग़ायब हो जाये— चकित नहीं करता बल्कि यह सोचने को विवश करता है कि अव्वल तो यह विचार ग़लत है, दूसरे अगर ऐसा हो ही जाये तो फिर क्या किया जाये? लड़की के भाई को अवर्षा इस तरह की स्थिति नज़र आती है जैसे पानी बरसेगा सबेरा होगा— यह देख कर मन तरस खाता है कुछ यूँ कि अब तो पानी बरस ही जाये तो अच्छा! बच्चे के सपनों को घर की मुँडेरों से भी ऊपर जाने की इजाज़त न देना क्रूरता लगने लगती है। स्वाभिमान-दंभ-पुरुष-तिरस्कार, क्या एक ही चरित्र के इतने रूप हो सकते हैं? नहीं! यह एक स्थिति हैं जो नायक की तरह **थोड़ा सा रूमानी हो जाएँ** की आवश्यकता है।

इस जटिल स्थिति को फ़िल्म के प्रारंभ में संदर्भ बिन्दु की तरह प्रस्तुत किया गया है और सभी पात्र इसे सहज बनाने का काम करते हैं और जैसे ही वे स्वयं सहज होने लगते हैं फ़िल्म अपना असर और अर्थ स्पष्ट करने लगती है। इस फ़िल्म में नाना पाटेकर एक लंबे-चौड़े नाम के साथ स्थिति के स्पष्ट होने के बाद शामिल होते हैं जो प्रतीक और फंतासी के बीच की किसी ज़मीन पर खड़े होते हैं। फ़िल्म का सबसे अविश्वसनीय हिस्सा यही है और कला का कमाल यह है कि यही सबसे आकर्षक तथा असरदार हिस्सा है। सपनों की सुगंध का आकर्षण यहीं बीज की तरह बोया जाता है तथा सत्य अपने खुद की खोल से बाहर आने को यहीं से मचलना शुरू करता है। सपने का सच्चा प्रतिनिधि बन कर नाना पाटेकर जिस प्रकार हितैषी तथा ठग दोनों एक साथ नज़र आता है वह सपनों की पूरी व्याख्या नज़र आती है। बारिशकर का नाम स्थिति का स्पष्टीकरण है। बारिश में ही अंकुर

फूटते हैं। अंकुर बीज का सपना भी है और सच भी। इस तरह सच और सपने क़रीब हों तो फिर बारिशकर की आवश्यकता ही नहीं है लेकिन **थोड़ा सा रूमानी हो जाएँ** वहाँ से विषय उठाती है जहाँ बीज अंकुर को अपना मानने को तैयार ही नहीं है, और वहाँ तक लाती हैं जहाँ दोनों अपने यथार्थ को समझ लें— सपना भी और सच भी। और ज्यों ही एक-दूसरे को दोनों स्वीकार करते हैं ठग और हितैषी की तरह सपना ओझल हो जाता है तथा बारिशकर ग़ायब हो जाता है। तब बरसात; लड़की, पुरुष, आसमान, खेत, भविष्य सब साफ़ कर देती है, धोकर। ऐसे में *रूमानी हो जाना* जीवन से पलायन की बजाय उसका स्वीकार बन जाना है।

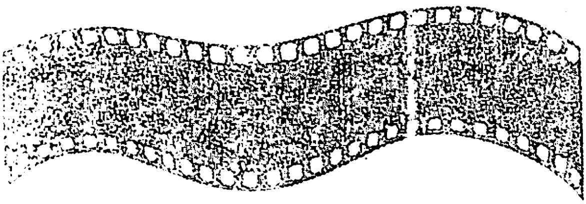
वर्तमान समय में जहाँ एक और रुमान का स्वीकार, सत्य के तिरस्कार तथा अज्ञात लोक में भरमार कर भौतिक लाभ के जरिये के रूप में इस्तेमाल हो रहा तथा दूसरी ओर उसी का तिरस्कार जीवन का संघर्ष तथा उसका परम सत्य बना कर प्रस्तुत किया जा रहा है, ऐसे में **थोड़ा सा रूमानी हो जाएँ** दोनों परम एक पक्षीय दृष्टिकोणों को ग़लत साबित करती है तथा ज़िंदगी को अर्थशास्त्र तथा गणित बनाने की कोशिशों को नाक़ाम भी करती है।

इस काम में अमोल पालेकर तो बेहद क़ामयाब हैं ही उसमें नाना पाटेकर भी कुछ कम नहीं हैं। बाक़ी पात्र स्थितियों को स्पष्ट करते हैं यही उनकी सफ़लता है। गीत-संगीत पूरी फ़िल्म की धड़कन की तरह साथ चलते रहते हैं और फ़िल्म को जीवन्त बनाये रखने में मदद करते हैं। कुल मिलाकर **थोड़ा सा रूमानी हो जाएँ** एक ज़रूरी फ़िल्म है जिसे देखना चाहिए, अच्छी फ़िल्म है जिसकी चर्चा होनी चाहिए तथा एक महत्वपूर्ण फ़िल्म है जिसे स्वीकार किया जाना चाहिए।



अजूबा

प्रभुनाथ सिंह आज़मी



अजूबा एक बेकार फ़िल्म है और बेकार फ़िल्म की चर्चा करना बेकार का काम है लेकिन चूँकि इस फ़िल्म के निर्माण के पीछे शशिकपूर का नाम है इसलिए इस फ़िल्म का ज़िक्र ज़रूरी है। ख़राब फ़िल्मों से अच्छा पैसा कमाकर शशिकपूर ने उम्दा फ़िल्में बनायीं है और **अजूबा** का ज़िक्र कुछ इस अंदाज़ से किया जाता रहा है जैसे इस फ़िल्म पर शशिकपूर ने खुद को दाँव पर लगा दिया हो। जैसे कि राज कपूर ने **मेरा नाम जोकर** बना कर किया था। पर **अजूबा** देखकर सारे दावे हर कोण से ग़लत साबित होते हैं।

जैसे पहला दावा यही कि यह तेरह करोड़ की फ़िल्म है। तेरह करोड़— क्या? रुपये तो लगते नहीं। फ़िल्म देखते हुए, बनाने वाले को भी साथ लेकर बैठो तो यही कहेगा कि अगर फेंकने भी बैठो तो अजूबा जैसी फ़िल्म पर तेरह करोड़ रुपये ख़र्च नहीं होंगे। और अमिताभ बच्चन जैसा *हीरो* मत्स्यमाता को *माँ* कहकर समुन्दर पर आवाज़ फेंकेगा तो जो डाल्फ़िन उछलकर बाहर आयेगी वह तेरह करोड़ रुपये में इतनी फूहड़ तो नहीं ही निकलेगी और फिर जादू-मदारी के खेल में तीन का तेरह तो होता ही रहता है।

तो फ़िर ये तेरह करोड़ का मामला क्या है? ज़ाहिर है कि तीन हो या तेरह ख़र्च तो शशिकपूर ने ही किये हैं और उसका नुकसान फ़ायदा भी वे ही उठायेंगे (बल्कि उठा चुके होंगे)— लेकिन यहाँ पर *तेरह करोड़* बतौर नायक प्रस्तुत हुआ है जो पूरी फ़िल्म में अपना हुनर दिखायेगा— ऐसा सोच कर आप फ़िल्म देखने पहुँचें। बस तेरह-करोड़ का मक़सद हल। बाक़ी फ़िल्म में कुछ हो या न हो इक्कीस रीलें तो हैं ही। पैसे को लुभाने वाले अंदाज़ को तो हम भोगते कोसते रहते ही हैं मगर पैसा बतौर आतंक भी इस्तेमाल किया जा सकता है यह अजूबा देखकर साफ़ समझ में आता है।

दूसरा दावा यह कि इस फ़िल्म पर शशिकपूर ने अपना सारा कुछ बल्कि यहाँ तक कि खुद को भी दाँव पर लगा दिया है। यह सारी कथा भी **मेरा नाम जोकर** की संवेदना को ध्यान में रख कर बुनी गयी है। लोग याद करेंगे बेचारे राजकपूर ने इतनी अच्छी फ़िल्म बनायी अपना सब कुछ लुटा दिया। अब शशिकपूर के साथ ऐसा नहीं होने देना चाहिए। आपने टिकट ख़रीद ली। काम हो गया। बाक़ी आगे और कुछ हो या न हो— अमिताभ बच्चन हैं ही।

एक दावा यह कि **अजूबा** भरपूर मनोरंजन और विशुद्ध मनोरंजन की फ़िल्म है। इस त्रासद समय में इससे बढ़िया आकर्षण और क्या हो सकता है। और अगर ऐसा होता तो भी बहुत नेक काम होता है मगर **अजूबा** में यही तत्व अजब ढंग से लापता है। वास्तव में मनोरंजन का भी अपना एक तर्क शास्त्र है। **अजूबा** सारे मनोरंजक तत्वों को तर्कातीत ढंग से एक साथ मिला कर परोस देती है। कुछ इस तरह जैसे एक ही *डिश* में नमक, मिर्च, गुड़, खटाई, एक साथ डाल दिये गये हों। स्वाद के तर्क को समझे बग़ैर घालमेल *डिश* की तरह पेश की गयी **अजूबा** आख़िरकार भोजन से अरुचि ही पैदा करती है।

इसके बारे में कहा जाता है कि यह एक महँगे कास्ट्यूम की फ़िल्म है। सेट्स तथा कास्ट्यूम्स दोनों देख कर लगता है कि एक नौटंकी से अधिक ख़र्च की गुँजाइश इसमें कहीं नहीं है और कुल मिलाकर यह इस तरह की फ़िल्मों की खिल्ली ही उड़ाती है। लोग कहते हैं इसमें ढेर सारे सितारे हैं। होंगे! पर पूरी फ़िल्म में सारे के सारे धूल चाटते नज़र आते हैं।



राजकपूर की **जोकर** जब नहीं चली थी तो सिनेमा के जानकारों को तकलीफ़ हुई थी। हमें लगा था कि इस फ़िल्म का न चलना देखने वालों की नासमझी है। आज **अजूबा** टिकट खिड़की पर पिटे तो मैं इसे दर्शकों की समझदारी मानूँगा। चंद अच्छी फ़िल्में बनाने का सारा पुण्य **अजूबा** बना कर शशिकपूर ने गँवा दिया। सच पूछा जाये तो तेरह करोड़ के झाँसे में जनता को फ़ाँस कर तेरह करोड़ कमाने की चाल का नाम है **अजूबा** और यह शायद क़ामयाब न हो और यही अच्छी बात



होगी। दर्शकों को नासमझ समझना तथा साबित करना फ़िल्म वालों का प्यारा शग़ल है लेकिन **अजूबा** इसमें भी विफल रही है— क्योंकि नासमझी की भी एक समझ होती है **अजूबा** उसे भी नहीं समझ पायी। **अजूबा** जादूगरों की कथा है। आदमी को गधा-कबूतर बनाना चुटकियों का काम है, तो फिर तलवारबाज़ी क्यों? मन हो तो सामने वाले को बना दो गधा और दो, दो लात पीछे से या फिर कबूतर बना दो और कर लो पिंजरे में बंद। मगर नहीं जब शशिकपूर के मन में आयेगा तब वे आप के सामने गधा-कबूतर पेश कर देंगे और जब मन में आयेगा तब तलवारबाज़ी पेश कर देंगे। **अजूबा** अदर्शनीय फ़िल्म है— आप बच्चा बन के देखिये तो बड़ों की फ़िल्म नज़र आयेगी, बड़ा बन के देखिये तो बचकानी नज़र आयेगी।

शशिकपूर की **अजूबा** अजब फ़िल्म भी नहीं है। अच्छी विचारोत्तेजक फ़िल्म की उनसे हम उम्मीद करते हैं— जिसे वे यह कहकर खारिज़ कर सकते हैं कि ये फ़िल्में चलती नहीं और पैसा डूब जाता है मगर तेरह करोड़ में इस तरह दियासलाई दिखा देना भी एक ऐसा तमाशा है जिसे देखना और दिखाना भी अनुचित है। शशिकपूर के अपने भले के लिए भी तथा सिनेमा के भले के लिए भी— तेरह करोड़ में तेरह अच्छी फ़िल्मों की संभावना थी। उसमें तीन तो चल ही जातीं— तमाम नैतिक पतन और रुपये के अवमूल्यन के बावज़ूद भी। दरिद्र देश में रुपए से इस तरह खेलना जुए-सट्टे जैसा ही अपराध है।

एक राजा का दग़ाबाज़ मंत्री दग़ा देकर राज्य हड़प लेता है। खुद से नावाकिफ़ राजकुमार कुछ जादूगरों की मदद से राज्य वापस प्राप्त कर लेता है तथा दग़ाबाज़ मंत्री मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। इतने से कथानक में अमिताभ बच्चन, डिम्पल कापड़िया, दिलीप ताहिल, ऋषिकपूर, सोनम, सईद जाफरी, शम्मीकपूर, अमरीशपुरी, टीनू आनंद, सुषमा सेठ, तेज़ सप्रू के साथ-साथ ओदनशे गलाया, जार्ज़ी दामी व्हीस्की, ज़ोराब कापीनिद्ज़े, अबे सलाम लोरिया इत्यादि रूसी कलाकारों के दुरुपयोग का चमत्कार है **अजूबा**। ढेर सारे अच्छे कलाकारों का रद्दी इस्तेमाल का नमूना है **अजूबा**।

छोटे से लेकर बड़े पर्दे पर पिछले दिनों जो भी पसंद किया गया उन सारी चीज़ों को बटोरने का काम प्रयाग राज, ब्रिज कात्याल तथा भारत भल्ला को सौंपा गया। कहीं की *ट्रिक*, कहीं के *कास्ट्यूम*, कहीं के *चाचाश्री*, कहीं के *तातश्री*, कहीं की तलवारबाज़ी, कहीं का लटका-झटका, कहीं का चुटकुला— सब मिलाकर किसी नानी की कहानी में फिट किया गया। ढेर सारे कलाकारों के लिए जगह बनायी गयी, उन सबको एक फ़िल्म में समेटा गया। तेरह करोड़ के लिफाफ़े में रखा गया, और **अजूबा** नाम से पेश कर दिया गया। इसे देखने से पूर्व यह आभास होता है कि इसमें कुछ अजब घटनाएँ होंगी— मज़ा आयेगा। विशुद्ध मज़ा अच्छा प्रयोजन है— लेने-देने दोनों ही नज़रिये से। लेकिन जब फ़िल्म देखने लगो तो अजीब सा लगता है कि इसमें यही नहीं है। अजीब बातें अजब ढंग से उपस्थित होने की बजाय अनुपस्थित हैं और उपस्थित अजीब चीज़ें अजब ढंग से प्रभावहीन हैं। बस यही है **अजूबा**।

सलीम लंगड़े पे मत रो

प्रभुनाथ सिंह आज़मी

सलीम लंगड़े पर मत रो सत्य और संभावनाओं को दूसरी नज़र से देखने की कोशिश है। भारतीय मुसलमानों का अपने ही देश में खुद को अजनबी की तरह पाने और देखने के नज़रिये की स्थापना और उसे ख़ारिज करने की कोशिश में सईद मिर्ज़ा और सलीम दोनों एकाकार नहीं हो पाये है इसीलिए फ़िल्म अपने मुक़ाम तक नहीं पहुंच पाती। उपेक्षा, तिरस्कार और निर्धनता के बीच अलगाव तथा अकेलेपन को यह फ़िल्म सतही तौर पर छूती है और पात्रों के भीतर घट रही त्रासदी को लगभग नकार देती है।

सलीम द्वारा व्यक्त कथा तथा उसके पात्रों का परिचय *सलीम* को तो अभिव्यक्त करते हैं लेकिन उन पात्रों तथा स्थितियों पर केवल टिप्पणी करके छोड़ देते है जो सलीम को सलीम पाशा बनाने में बहुत महत्वपूर्ण हैं। गुंडा पात्रों के बीच मनुष्यता को जीवित देखने का सईद मिर्ज़ा का अपना एक अंदाज़ है जो सिनेमा के माध्यम से व्यक्त होते हुए उनकी व्यक्तिगत उपलब्धि नजर आती है। एक तरह की मासूमियत, कुटिलता तथा क्रूरता के साथ भी संभव है यह इस फ़िल्म की बुनियाद के रूप में लगातार ठहरी रहती है और एक जगह जाकर यह भी स्पष्ट करती है कि अपराध जगत में सभी अपराध करने वाले अपराधी नही होते। वास्तव में अपराधी एक कुटिल मानसिकता की पूंजीवादी इच्छा है जो अपराध को मासूम लोगों में विकेन्द्रित कर देती है।

इस फ़िल्म में भारतीय मुसलमानों का देश की मुख्यधारा में शामिल होने न होने की कथा का इस्तेमाल एक बाप, एक माँ, दो लड़के (एक जीवित- सलीम, तथा एक दिवंगत) तथा एक लड़की वाले गरीब परिवार को केन्द्र में रखकर किया गया है। जिसके इर्द-गिर्द अपराध, वेश्यावृत्ति, चोरी, हत्या, तस्करी, अशिक्षा, दंगा, साम्प्रदायिकता इत्यादि सारी बुराइयाँ छाँट-छाँट कर रख दी गयी हैं। यह सईद मिर्ज़ा का सिनेमाई कौशल है कि यह तमाम जमावट उस परिवेश का सहज सत्य नज़र आते हैं, जिसमें कमाता कोई नहीं दिखता पर खाते-पीते सभी नज़र आते हैं। पटकथा इतनी चुस्त तथा गति इतनी तेज़ है कि ठहर कर देखने की गुंजाइश ही नहीं बनती। ऊपर से हृदय लानी के संवाद इतने प्रभावशाली हैं कि पात्रों को उन्हें अभिव्यक्त करने के लिए विशेष मेहनत नहीं करनी पड़ी है।

विषय का चुनाव तथा उसके साथ फ़िल्म ट्रीटमेंट बहुत प्रभावशाली है लेकिन यह और प्रभावशाली बन सकता था। एक तो फ़िल्म में फोटोग्राफ़ी जाने किस कलात्मकता के मोह में उलझी है कि दृश्य स्पष्ट ही नहीं हो पाते और फ़िल्म मे एक तरह की झुँझलाहट होने लगती है। कुछ दृश्यों में इसे आवश्यकता की तरह स्वीकार किया जा सकता है लेकिन पूरी फ़िल्म में इस इकलौते कारण से कोफ़्त होती है। फ़िल्म की पहली शर्त यह होती है— कि वह दर्शनीय तो हो। बाकी तो बाद में ही देखेंगे।

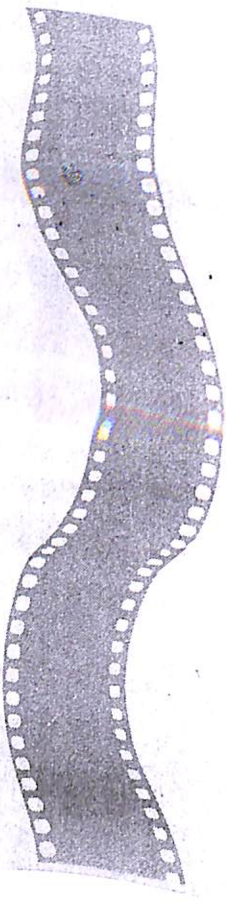


सलीम के साथ दो पात्र और हैं— उसी के मददगार की तरह लेकिन उनका कोई संसार नहीं है। सलीम के घर में माँ सिलाई करती रहती है— पर उसकी भी कोई दुनिया नहीं है। सलीम का पिता है नौकरी तथा संभावनाओं वाले पुत्र से महरूम अंतिम दिनों में बिना किसी आकाश के। सलीम की बहन है जो असलम के ख्वाब तो देखती है मगर बिना इच्छा-आकांक्षा के। सलीम का एक और हमदर्द है हिप्पी बाबा जिसकी भारत में रहने की एक ही इच्छा है जिसकी वजह एक मात्र मान्यता है कि संसार में भारत से अच्छी मरने लायक जगह नहीं है। यानी कुल मिलाकर सलीम के संसार में शामिल लोगों के अपने कोई सरोकार नहीं है। इसलिए सलीम लंगड़े के सरोकार पूरी फ़िल्म के सरोकार हैं। विचित्र यह है कि अपने वामपंथी रुझान तथा कई कोणों से फ़िल्म को सम्पन्न करने की कोशिश में मूलकथ्य दब जाता है। विचार के स्तर पर राजेन्द्र गुप्त का असलम वाला चरित्र तथा उसके संवाद सईद मिर्ज़ा के विचार की तरह व्यक्त होते हैं मगर दो-एक स्थितियों को छोड़ कर ये संवाद भाषण की वू अख़्तियार कर लेते हैं और फ़िल्म से अलग छिटक जाते हैं। ख़ासकर असलम द्वारा *इस्लाम* की व्याख्या करके यह बताना कि इस्लाम में औरतों का तालीम हासिल करना मना नहीं है या कि जब वह सलीम को हिन्दुस्तान-पाकिस्तान-बंगलादेश के निर्माण की प्रक्रिया तथा उसकी वज़ह बताता है। परन्तु इन्हीं दृश्यों में जब असलम सलीम के मरहूम भाई को याद करता है तब पूरे दृश्य में अनुपस्थित पात्र बहुत ताकत के साथ प्रस्तुत होता है। यह दृश्य इतना प्रभावशाली बन पड़ा है कि आगे पीछे की प्रभावहीनता को अर्थपूर्ण बना देता है। वास्तव में **सलीम लंगड़े पर मत रो** छोटे आकाश से वृहत्तर ब्रह्माण्ड की यात्रा का सुख देती है। जाति, धर्म, अल्पसंख्यक बहुसंख्यक की दुनिया से निकाल कर मनुष्यता तथा हमख़याली की ओर ले जाना बड़ा काम है।

छोटे और बड़े लोगों के बीच के अन्तर को इच्छा तथा अभिलाषा को साथ जोड़ने की सोच चमत्कृत करती है और यह खटकने वाली बात लगती है, किन्तु इस कसक का हल सईद मिर्ज़ा अपराध की ओर आसानी से फिसल जाने वाले पावों को नए ढंग से देख कर करते हैं। अपराध में लिप्त पात्रों को सिनेमा में, थ्रिल, ग्लैमर या तात्कालिक कर्म में व्यस्त पात्र की प्रस्तुति की तरह प्रयोग किया जाता है। जबकि यहाँ इन पात्रों द्वारा उसे कैरियर की तरह अपनाया गया बताया जाता है जिस तरह इब्राहीम अथवा नाथू सेठ सड़क छाप उचक्के से, तरक्की (?) करके पुलिस के कंधों पर हाथ रखने वाले 'इस्टाइलिश' बड़े (?) आदमी, बन गये; उसी तरह वे भी एक-दिन बन सकते हैं— यह उनका 'कैरियरिस्टक' सोच है। यह सईद मिर्ज़ा का बुनियादी सोच है जो **सलीम लंगड़े पर मत रो** को एक आम अपराध फ़िल्म से अलग करती है— पर इस फ़िल्म को अनावश्यक रूप से कला फ़िल्म बनाने की कोशिश साफ़ नज़र आती है जो बेवज़ह; बिना फ़िल्म को किसी भी कोण से समृद्ध किये; अदर्शनीय बना देती है। ख़ासकर प्रकाश का कंजूसी से किया गया इस्तेमाल बहुत खटकता है।
एक दृश्य में सड़क के बीच खड़ी कार का तीनों उचक्के वाइपर खोलते हैं।

मालिक द्वारा आपत्ति तथा उचक्कों द्वारा बदतमीज़ी के बाद सलीम बीच बचाव करता है। जब कार वाला जाने लगता है तब वे उचक्के कहते हैं ''जाओ वाइपर म़ाफ''। इस इकलौते दृश्य से अपराधी और अपराध का रिश्ता खत्म हो जाता है और सारी व्यथा की जड़ व्यवस्था में साफ़ नज़र आने लगती है। सामूहिक अभिनय करवाने में सईद मिर्ज़ा को जो महारत हासिल है वह आजकल कम देखने को मिलती है और इसी गुण के चलते सईद की फ़िल्में अपने विचार को सामूहिक संकल्प की तरह प्रस्तुत भी कर पाती हैं। यह मनुष्य-मनुष्य के बीच रिश्तों की गर्मी का एहसास दिलाती है ख़ास कर उनके धारावाहिकों में तो यह रेखांकित होती है।

फ़िल्म में नीलिमा अज़ीम की उल्लेखनीय किन्तु विषय से अलग भूमिका है जो सलीम के सामने खड़े सवालों में प्रेम को आवश्यक तत्व की तरह पेश करने में सफल है। अशिक्षा और असमर्थता को पुलिस द्वारा जबर्दस्ती अंगूठा लगवाने वाले दृश्य में इस तरह प्रस्तुत किया गया है जैसे यह फ़िल्म का हिस्सा न होकर हमारे साथ होता हादसा है। अंत में, सही दिशा में जाने की समझ आते ही सलीम का खून हो जाता है और फ़िल्म **सलीम लंगड़े पर मत रो** समाप्त हो जाती है, साफ़-साफ़ तौर पर बताती हुई कि सलीम लंगड़े पर मत रो लेकिन स्पष्ट न कर पाते हुए कि क्यों?



डेविड लीन

ब्रीफ़ एन्काउन्टर

पटकथा : नोअल कॉवर्ड



फ़िल्म 1938-39 की शीत ऋतु के समय की घटनाओं को चित्रित करती है। एक स्थानीय रेल मिलफ़ोर्ड जंक्शन स्टेशन के प्लेटफ़ॉर्म नंबर एक पर आ रही है, लाउडस्पीकर पर आवाज़ आती है : 'मिलफ़ोर्ड जंक्शन-मिलफ़ोर्ड जंक्शन' ट्रेन क़रीब और क़रीब आती है। इंजन से धुएँ का बड़ा सा बादल निकलता है। स्क्रीन पूरी तरह से सफ़ेद हो जाती है। मेन टाइटल्स आते हैं। आख़िरी टाइटल के साथ धुआँ छँटता है। इंजन फिर से नज़र आता है जो जंक्शन के बाहर जाने के लिए चल पड़ता है। अल्बर्ट गोडबी टिकट बैरियर पर है। उसकी उम्र तीस से चालीस के बीच होगी। उसके बोलने का ढंग उत्तर की तरफ़ का है। वह जाने वाली ट्रेन के यात्रियों के आखिरी कुछ टिकिट इकट्ठे करता है और प्लेटफ़ॉर्म के किनारे की ओर बढ़ने लगता है। एक एक्सप्रेस ट्रेन दूर से आती हुई नज़र आती है। अल्बर्ट प्लेटफ़ार्म नंबर एक से पटरी पर कूदता है और एक्सप्रेस के गुज़र जाने का इन्तज़ार करता है। ट्रेन शोर मचाती हुई गुज़र जाती है लगभग दृश्य को ओझल करते हुए। अल्बर्ट ट्रेन को गुज़रते हुए देखता है। डिब्बों की खिड़कियों की रोशनी उसके चेहरे पर जलती बुझती है। अपनी कमर की जेब में वह चेन वाली घड़ी निकालता है और ट्रेन का समय चेक करता है। घड़ी में 5.35 बजे हैं। उसके चेहरे पर उत्पन्न संतोष के भाव में हम जान जाते हैं कि ट्रेन ठीक समय पर है। वह घड़ी वापस रख देता है और बत्तियाँ उसके चेहरे पर चमकना बंद हो जाती है। ट्रेन गुज़र गयी है और अल्बर्ट उसे ब्रोगदे में जाते हुए देखता रहता है। वह उस पटरी को पार करता है जिस पर होकर अभी-अभी एक्सप्रेस गयी है, प्लेटफ़ॉर्म नंबर दो पर कूदता है और जलपानगृह की ओर चल पड़ता है।

जलपानगृह में वह काउंटर की तरफ़ बढ़ता है जहाँ मिर्टल बैगॉट और उसकी सहायक बेरिल वाटर्स खड़ी हैं, मिर्टल एक हष्ट-पुष्ट और प्रभावशाली विधवा है, उसके बाल ऊपर की तरफ इकट्ठे हैं और वह जिन्दादिल है सिवाय उन अवसरों के जब वह परिष्कृत महिला की भूमिका निभाती हैं। बेरिल सुन्दर पर धुँधली है, और उसका धुँधलापन मिर्टल के व्यक्तिगत प्रभा से ही नहीं, उसकी दृढ़ प्रभुसत्ता के कारण भी है,

अल्बर्ट : हलो....हलो....हलो!

मिर्टल : तुम तो ग़ायब ही हो गये थे।

अल्बर्ट : मैं कल आ नहीं पाया था।

मिर्टल : मैं ताज़्जुब कर रही थी कि तुम्हें क्या हो गया?

अल्बर्ट : मैं एक लफड़े में उलझ गया था।

मिर्टल : (उसकी चाय बनाते हुए) किस बारे में?

अल्बर्ट : मैंने एक आदमी को फ़र्स्ट क्लास के डिब्बे में से उतरते हुये देखा जब मैंने उसका टिकिट देखा तो वह थर्ड क्लास का था। जब मैंने उससे वहा कि तुम्हें जुर्माना होगा तो वह ग़रम हो गया और मुझे मिस्टर सॉन्डर्स को बुलवाना पड़ा।

मिर्टल : यह तो अच्छा रहा।

अल्बर्ट : उन्होंने उसे क़ायदे में समझा दिया।

मिर्टल : और नहीं तो क्या?

जलपानगृह के दूर के कोने में एक मेज़ पर अलेक हार्वे और लॉरा जैसन बैठे हुए हैं। वह लगभग पैंतीस का होगा और उसने एक बरसाती और स्क्वैश कोट पहन रखा है। वह तीस-बत्तीस की आकर्षक महिला है, उसके कपड़े फ़ैशनेव़ल तो नहीं हैं, पर सुरुचिपूर्ण हैं। वे संज़ीदा बातचीत में लगे हैं, पर हम उनकी बातें नहीं सुन पाते।

अल्बर्ट (दूर) : मैंने बताया न कि उन्होंने उसे क़ायदे में समझा दिया— 'या तो पैसे जमा करो' उन्होंने कहा, 'या फिर मैं तुम्हें पुलिस में दे देता हूँ।' तुम अगर उस बंदे का चेहरा देखतीं कि *पुलिस* का नाम सुनते ही उसका रंग किस तरह से उड़ गया था। उसकी तो हवा ही खिसक गयी और उसने खटाक से पैसे दे दिये।

मिर्टल (दूर) : यही तो मैं कहती थी, उसमें खुद में दम नहीं थी कि वह अकेला मामले को सुलटा ले तभी तो उसे पुलिस बुलानी पड़ी।

अल्बर्ट (दूर) : किसने कहा कि उसे पुलिस बुलवानी पड़ी?

मिर्टल (दूर) : तुमने कहा, और किसने?

अल्बर्ट (दूर) : मैंने ऐसा कुछ नहीं कहा, मैंने तो बस यही कहा था कि उसने पुलिस का नाम लिया। नाम लेना और बुलवाना, दो अलग-अलग बातें हैं। वह बुरा आदमी नहीं है मिस्टर सॉन्डर्स। आख़िर उस आदमी से ज़िन्दादिली की उम्मीद नहीं की जा सकती जिसका एक ही फेफड़ा काम कर रहा हो और जिसकी पत्नी को डायबिटीज़ (मधुमेह) हो गया है।

मिर्टल (दूर) : मुझे लगा ही था कि कहीं गड़बड़ है तभी तो तुम नहीं आये।

अल्बर्ट और मिर्टल का क्लोज़ शॉट। बेरिल पृष्ठभूमि में है। अल्बर्ट और मिर्टल के व्यक्तिगत क्लोज़ शॉट। वे बातचीत कर रहे हैं।

अल्बर्ट : मैं बात साफ़ करने के लिए यहाँ आ ही जाता, पर कल मेरा एपाइंटमेंट था जहाँ मुझे जाना ज़रूरी था।

मिर्टल : (ठंडेपन से) : अच्छा?

अल्बर्ट : एक परिचित बंदे की शादी थी।

मिर्टल : बड़ी अच्छी बात है, मुझे यक़ीन है।

अल्बर्ट : यह तुम्हें अचानक क्या हो गया है?

मिर्टल : मुझे क्या होगा?

अल्बर्ट : तुम्हारा दोस्ताना रुख़ एकाएक ही बदल गया।

मिर्टल :(उसे अनदेखा करते हुए) बेरिल, जल्दी करो स्टोव में थोड़ा और कोयला डालो।

बेरिल : हाँ मिसेस बेगोट।

मिर्टल : मैं यहाँ खड़ी होकर फ़ालतू बातों में अपना वक़्त बर्बाद नहीं करना चाहती, मिस्टर गॉडबी।

अल्बर्ट : क्या तुम मुझे दूसरा कप पेश नहीं करोगी?

मिर्टल : यह आपकी मर्ज़ी है कि जब आपका कप ख़त्म हो जाये तो आप खुशी से दूसरा कप ले सकते हैं। बेरिल आपको दे देगी-मुझे मेरा हिसाब-किताब देखना है।

अल्बर्ट : मुझे अच्छा लगता अगर वह कप मुझे आप देतीं।

मिर्टल : वक़्त और अवसर किसी का इंतज़ार नहीं करते, मिस्टर गॉडबी।

अल्बर्ट : मुझे नहीं मालूम कि तुम्हारी झुँझलाहट का क्या कारण है, पर जो भी हो, इससे मुझे दुख पहुँचा है।

(डॉली काउंटर पर दिखती है, अपनी चाय भूलकर वह लॉरा और अलेक की तरफ़ तेज़ी से बढ़ती है।)

डॉली : लॉरा? सुखद आश्चर्य?

लॉरा : (स्तंभित) आह, डॉली?

डॉली : माय डियर आज तो क़सम से मैं तब तक ख़रीदारी करती रही जब तक मैं थकान से चूर-चूर नहीं हो गयी। मेरे पैर जवाब देने लगे और मेरा गला तो बिलकुल ही सूख गया। पहले मैंने सोचा कि स्पिंडल के यहाँ चाय पी लूँ। फिर मुझे यह भी डर था कि कहीं ट्रेन न छूट जाये। मेरी ट्रेन हमेशा ही छूट जाती है इस कारण मैं खाने के वक़्त घर नहीं पहुँच पाती हूँ। इस वजह से बॉब कई दिनों तक लगातार उखड़ा-उखड़ा रहता है— तुम्हें पता है बॉब को आजकल भयानक सिरदर्द होता है। मैं उससे कह रही हूँ, डॉक्टर को दिखा लो पर वह है कि मानता नहीं, (उनकी मेज़ पर लगभग गिरते हुए) ओह डियर।

लॉरा : आप हैं डॉक्टर हार्वे।

अलेक (उठते हुए) : कैसी हैं आप?

डॉली (हाथ मिलाते हुए) : आप कैसे हैं? क्या आप इतनी मेहरबानी करेंगे कि मेरा चाय का कप वहाँ से उठा लाएँ? मेरी बूढ़ी हड्डियों में अब इतना दम नहीं है कि काउंटर तक मेरे शरीर को खींचकर ले जाये। मुझे टॉनी के लिये कुछ चॉकलेट भी ले जाना है, पर मैं वह बाद में भी ले सकती हूँ।

(वह पैसे देने लगती है। वह उठकर फ़्रेम के बाहर काउंटर की तरफ़ जाने लगता है, डॉली और लॉरा का क्लोज़ शॉट।)

डॉली : माई डियर— कितना शानदार आदमी है। भला कौन है यह? सच, तुम तो बड़ी छुपी रूस्तम निकलीं। मैं सुबह ही फ्रेड को फोन करती हूँ और तुम्हारी शिकायत लगाती हूँ— बड़ी क़िस्मत की बात है। तुम्हें देखे तो एक अरसा हो गया और मैं तुम्हारे घर आने का कब से सोच रही थी पर बीच में टॉनी को खसरा हो गया और उसके बाद फ़िलिप को लेकर भयानक बतंगड़ उठ खड़ा हुआ।

लॉरा (कोशिश करके) - ओह, कितना भयानक?

काउन्टर पर अलेक अल्बर्ट के पास खड़ा है, जो अपने कप की चाय ख़त्म कर रहा है। अल्बर्ट जाता है और मिर्टल अलेक को डॉली के चाय के कप के खुल्ले पैसे वापस करती है।

डॉली (दूर) : तुम तो जानती ही हो, मैंने उस लड़की को कभी पसंद नहीं किया, पर इसके बाद भी टॉनी उसे काफ़ी पसंद करता था। वह उसे चाहता था, पूजता था और... पर खैर छोड़ो— मैं इस बारे में तुम्हें ट्रेन में सब कुछ बता दूँगी

(अलेक डॉली की चाय लेकर मेज़ की ओर आता है। बैठ जाता है)

डॉली : बहुत-बहुत धन्यवाद। हालाँकि इसमें दूध काफ़ी है— पर फ़िर भी यह स्फूर्तिदायक होगी, (घूंट लेती है) ओह डियर, इसमें शकर तो है ही नहीं।

अलेक : वह चम्मच में है।

डॉली : ओह, मैं भी कितनी मूर्ख हूँ - लॉरा तुम आज बड़ी सुन्दर दिख रही हो कितना ही अच्छा होता अगर मैं जानती कि तुम भी आज आ रही हो, तब हम दोनों साथ-साथ आये होते। हमने साथ-साथ लंच लिया होता और गप-शप की होती। मुझे वैसे भी अकेले शॉपिंग करना अच्छा नहीं लगता।

(प्लेटफ़ॉर्म पर घंटी की आवाज़ आती है और लाउडस्पीकर पर एक आवाज़ शर्ली की ओर जाने वाली ट्रेन के आने की सूचना देती है)

लॉरा : तुम्हारी ट्रेन आ गयी।

अलेक : हाँ जानता हूँ।

डॉली : क्या आप हम लोगों के साथ नहीं चल रहे हैं?

अलेक : नहीं, मुझे ठीक आप लोगों से उल्टी दिशा में जाना है, मेरी प्रेक्टिस शर्ली में है।

अलेक : इस वक़्त में जनरल प्रेक्टिशनर हूँ।
लॉरा : (बोझिलता से) डॉक्टर, हार्वे अगले हफ़्ते अफ़्रीका जा रहे हैं।
डॉली : ओह, कितना रोमांचक!
(अलेक की ट्रेन के आने की आवाज़ आती है।)
अलेक : अच्छा, चलता हूँ।
लॉरा : अच्छा।
अलेक : गुडबॉय।
डॉली : गुडबॉय।
अलेक डॉली से हाथ मिलाता है। लॉरा की तरफ़ जल्दी से एक बार देखता है। ट्रेन की घड़घड़ाहट सुनाई देती है। वह दरवाज़े तक जाता है और फिर बाहर प्लेटफ़ॉर्म पर।

लॉरा उस दरवाज़े को देख रही है जिससे होकर अलेक अभी-अभी गया है। वह बकबक करने वाली डॉली की उपस्थिति से बेख़बर सी है, जो अपने बैग में से लिपिस्टिक और शीशा निकाल रही है।

लॉरा का क्लोज़ शॉट।
डॉली : उसे भागना होगा नहीं तो ट्रेन छूट जायेगी उसे दूसरे प्लेटफ़ॉर्म पर जाना होगा। ट्रेन छूटने की बात से मुझे ब्रोडहॅम जंक्शन के उस भयानक पुल की याद आ रही है, जहाँ आप को घूम कर एक तरफ़ पहले ऊपर जाना पड़ता है फिर दूसरी तरफ़ नीचे। पिछले हफ़्ते मैं बॉब के वकील को देखने गयी थी घर की लीज़ को रिन्यू करवाने। मैं स्टेशन पर ठीक आधा मिनट पहले पहुँची...



डॉली का क्लोज़ शॉट, जो अपने बकबक करते मुँह पर लिपिस्टिक लगा रही है। और इस प्रक्रिया को छोटे शीशे में देख रही है।

डॉली : ...माई डियर, मैं भागने लगी मेरे साथ टॉनी था और मूर्खों की तरह मैं ड्राइंग रूम के लैम्प के लिये एक नया शेड भी ले आयी थी। मैं उसे मिलफोर्ड में भी तो खरीद सकती थी।

लॉरा का क्लोज़ शॉट

डॉली (दूर) : यह बड़ी शानदार चीज़ थी और मैं उस पर से आँख भी नहीं हटा पायी— अपनी ज़िन्दगी से मैंने अपने आपको इस हालत में मैंने पहले कभी नहीं पाया— मैंने एक औरत को तो लगभग गिरा ही दिया था।

लॉरा की दृष्टि से प्लेटफ़ॉर्म की तरफ़ का दरवाज़ा दिखायी देता है।

डॉली (दूर) वैसे जब तक मैं घर पहुँची उस समय तक उसकी हालत खराब हो गयी थी। प्लेटफ़ॉर्म पर घंटी की आवाज़ आती है।

डॉली : क्या ट्रेन आ गयी है?

वह मिर्टल से पूछती है।

डॉली : क्या आप मुझे बता सकती है, कि वह केचवर्थ ट्रेन है?

मिर्टल (दूर) नहीं, यह तो एक्सप्रेस है।

लॉरा : बोट-ट्रेन।

डॉली : हाँ— यह यहाँ नहीं रुकती, और क्या?

वह उठती है और काउंटर पर मिर्टल की ओर बढ़ती है,

डॉली : एक्सप्रेस ट्रेन जो मानो टॉनी की जान हैं— मुझे कुछ चॉकलेट चाहिये।

मिर्टल : दूध की या सादी।

डॉली : मेरे ख़्याल से सादी— या नहीं, शायद दूध की ही बेहतर रहेगी? क्या आपके पास ऐसी कोई है जिसमें नट्स हों?

(दूर एक्सप्रेस की आवाज़ सुनाई देती है)

मिर्टल : नेसले की नट-मिल्क-शिलिंग या सिक्स पेंस?

एक्सप्रेस की आवाज़ और तेज़ हो जाती है, एक्सप्रेस धड़धड़ाती हुई स्टेशन से गुज़रती है जब डॉली अपनी चॉकलेट खरीदती है। वह पलटकर देखती है कि लॉरा मेज़ पर नहीं है।

डॉली : अरे, वह कहाँ है?

मिर्टल : (काउंटर को देखते हुए) मैंने उन्हें जाते हुए नहीं देखा।

दरवाज़ा खुलने की आवाज़ आयी है और वे दोनों देखते हैं, प्लेटफ़ॉर्म नंबर दो वाले दरवाज़े से लॉरा आती दिखाई देती है, उसका चेहरा ज़र्द और उसकी चाल लड़खड़ायी हुई है। वह दरवाज़ा बन्द करती है और उससे टिककर खड़ी हो जाती है। डॉली फ्रेम में आती है।

डॉली : माई डियर, मैं सोच रही थी तुम कहाँ चली गयी हो?

लॉरा : मैं बस एक्सप्रेस को गुज़रते हुए देखना चाहती थी।
डॉली : आखिर बात क्या है तुम ठीक तो हो?
लॉरा : बस ज़रा तबीयत अच्छी मालूम नहीं पड़ रही है।

लॉरा धीरे-धीरे मेज़ की तरफ़ बढ़ती है जहाँ डॉली उसे कुर्सी पर बैठने में मदद करती है। प्लेटफ़ॉर्म की घंटी बजती है और लाउडस्पीकर सूचित करता है कि केच्त्रर्थ की ट्रेन आ रही है।

लॉरा : अपनी ट्रेन।
डॉली शॉट से बाहर काउन्टर की तरफ़ जाती है।
डॉली : (दूर) क्या आपके पास ब्रांडी होगी?
मिर्टल : देखिये, इस वक़्त ब्रॉडी देने की मनाही है।
डॉली : (दूर) वह तो है— पर अगर कोई बीमार हो...
लॉरा : मैं बिलकुल ठीक हूँ।

डॉली और मिर्टल का क्लोज़ शॉट

डॉली : ब्रांडी के एक घूंट में ही तुम ठीक हो जाओगी, (मिर्टल से) : प्लीज़...
मिर्टल : अच्छा...
वह ब्रांडी देती है जबकि ट्रेन के स्टेशन की तरफ़ आने की आवाज़ सुनाई देती है।
डॉली : कितने हुए?
मिर्टल : टेन पेंस, प्लीज़...
(फिर से मेज़ पर बैठी लॉरा पर फोकस)
डॉली : (दूर) यह लो।

ट्रेन के स्टेशन पर घिसटने की आवाज़।
डॉली ब्रांडी लेकर फ्रेम में आती है।
डॉली : यह लो, डियर (स्टिल)
लॉरा (लेते हुये) : शुक्रिया। अपने पार्सल उठाने बढ़ती है। वे जलपान
वह ब्रांडी को गटक जाती है। इधर डॉली तीन के दरवाज़े की तरफ़ चल देते हैं।
के कमरे को तेज़ी में पार करते हैं और प्लेटफ़ॉर्म नंबर पहुँचते हैं। कुली एक तृतीय श्रेणी
बाहर वे प्लेटफ़ॉर्म को पार करते हुए ट्रेन तक दरवाज़ा जोर से बंद होने की आवाज़
के डिब्बे का दरवाज़ा खोलता है। दूर कहीं चार दिखाई पड़ता है। लॉरा
आती है। डिब्बे की खिड़की से दूर प्लेटफ़ार्म नंबर सीट पर बैठ जाती है।
बैठती है और डॉली उसके सामने कोने वाली

डॉली : अपनी किस्मत अच्छी है, यह तो मानना ही पड़ेगा।
डिब्बे को एक झटका लगता है और ट्रेन स्टेशन से आगे बढ़ना शुरू करती है।

डॉली : नहीं तो, यह ट्रेन खचाखच भरी रहती है।

डॉली जो अब तक अपने कई पैकेट सीट पर रख चुकी है, लॉरा से बात करने के लिए आगे झुकती है।

डॉली : मैं तुम्हारे बारे में बड़ी चिंतित हूँ, डियर, तुम्हारा चेहरा कितना पीला पड़ गया है।

लॉरा का क्लोज़ शॉट।

लॉरा : मैं ठीक हूँ... सचमुच ठीक हूँ... मुझे तो एक मिनट के लिये चक्कर आया था, और क्या? मेरे साथ ऐसा अक़सर होता है... एक बार तो बॉबी के स्कूल के फ़ंक्शन में ऐसा हो गया था। मुझे नहीं लगता उसने मुझे उस बात के लिये माफ़ किया हो।

वह हल्की सी मुस्कराती है। यह साफ़-साफ़ एक प्रयास है, पर वह इसमे सफ़ल होती है।

डॉली का क्लोज़ शॉट

डॉली (थोड़ा सा रूककर) : वह वास्तव में शानदार आदमी था।
लॉरा : कौन?
डॉली : तुम्हारा मित्र- वह डॉक्टर क्या पता क्या नाम है उसका।
लारा पर फ़ोकस
लॉरा : हाँ... वह शानदार आदमी है।
डॉली : क्या तुम उसे लम्बे समय से जानती हो?
लॉरा : नहीं, नहीं तो।

लॉरा फिर यूँ ही मुस्कराती है, पर उसकी आँखों में दर्द है।
लॉरा : मैं उसे कितना कम जानती हूँ, सच।
डॉली (दूर) : माई डियर, मुझे शुरू से ही डॉक्टर हमेशा अच्छे लगते आये हैं। मैं भली-भाँति समझ सकती हूँ कि औरतें क्यों न्यूरोटिक हो जाती हैं वैसे उनमें से कुछ ज़रूरत से ज़्यादा आगे चली जाती हैं। मैं वह वक्त कभी नहीं भूलूँगी जब मेरी नॉर्टन को पीलिया हो गया था। जिस तरह से उसने अपने डॉक्टर से बर्ताव किया था वह बड़ा ही शर्मनाक था, उसका पति तो गुस्से में पागल हो उठा था और उसने कहा था कि वह...
डॉली के शब्द रूक जाते हैं, लॉरा का मुँह बन्द रहता है. पर हम उसके विचार सुन सकते हैं।

लॉरा का स्वर : मेरी इच्छा होती है कि मैं तुम पर भरोसा कर सकूँ। काश कि

ुम एक समझदार, दयालु दोस्त होतीं बजाय एक गप्पी परिचित के, जिसे मैं पिछले कई साल से जानती हूँ और जिसकी मैंने कभी ख़ास परवाह नहीं की। काश...काश...

डॉली का क्लोज़ शॉट लॉरा के कंधे के ऊपर से।

डॉली : ज़रा सोचो तो सही वह दक्षिण अफ़्रीका जा रहा है। क्या वह शादी-शुदा है?

लॉरा : हाँ।

डॉली : बच्चे-वच्चे हैं?

लॉरा का क्लोज़ शॉट।

लॉरा : हाँ, दो बच्चे। उसे उन पर गर्व है।

डॉली (दूर); क्या वह उन्हें अपने साथ ले जा रहा है। अपने बीबी-बच्चों को?

लॉरा : हाँ, हाँ, ले जा रहा है।

डॉली का क्लोज़ शॉट।

डॉली : मुझे लगता है, एक तरह से यह ठीक भी है— खुली लंबी चौड़ी जगह पर एक बार फिर नयी तरह से अपनी ज़िंदगी शुरू करना, पर मैं यह कहना चाहूँगी कि इस तरह की कोई चाहत मुझे दूर नहीं ले जा सकती इंग्लैंड से...



दुबारा लॉरा पर।

डॉली (दूर) : अपने घर में और उन चीज़ों से जिनकी मैं आदी हो चुकी हूँ— मेरा मतलब है आदमी की भी आख़िर जड़ें होती हैं। नहीं क्या?
लॉरा : हाँ, आदमी की भी जड़ें होती हैं।

डॉली के मुँह का क्लोज़ शॉट

डॉली : एक लड़की जिसे मैं बरसों पहले जानती थी, अफ्रीका गयी थी— उसका पति एक इंजीनियर था ऐसा ही कुछ था ओ (माई डियर...)
लॉरा का क्लोज़ शॉट
डॉली (दूर) : उसकी वहाँ पर वही दुर्गति हुई। पिकनिक पर उसे क्या पता कौन सा जीवाणु लग गया और वह महीनों बीमार रही...

(डॉली की आवाज़ धीरे-धीरे गुम हो जाती है और हम लॉरा के विचार सुनते हैं— उसके होंठ नहीं हिलते)

लॉरा की आवाज़ : काश तुम बकबक करना बन्द कर देती। मैं चाहती हूँ कि तुम हर मामले में अपनी टांग फंसाना और बकबकाना बंद कर दो। मैं चाहती हूँ तुम भाड़ में जाओ, मर जाओ। नहीं... मेरा यह मतलब नहीं था। यह तो बड़ी ही क्रूर और मूर्खतापूर्ण बात थी। पर मैं चाहती हूँ कि तुम बातें करना बन्द कर दो...
(डॉली की आवाज़ धीरे-धीरे सुनाई देती है)
डॉली (दूर) : उसके सारे बाल झड़ गये और उसने कहा कि सामाजिक जीवन बिलकुल भयावह था— संकीर्ण और नवधनाड्य
लॉरा (थकी हुई) ओह, डॉली...

डॉली का क्लोज़ शॉट लॉरा के कंधे के ऊपर से

डॉली : क्या बात है डियर, क्या तुम्हारी तबीयत फिर बिगड़ गयी।
लॉरा : नहीं बस थोड़ा सा चक्कर आ रहा है। मैं सोचती हूँ थोड़ी देर आँखें बन्द कर लूँ।
डॉली : बेचारी... कितने शर्म की बात है कि मैं यहाँ बेसिरपैर की बातें किये जा रही हूँ। मैं अब एक शब्द भी नहीं बोलूँगी और अगर तुम्हें झपकी लग गयी तो मैं लेवल क्रॉसिंग पर जगा दूँगी जिससे तुम्हें उठने से पहले संभलने और चेहरा ठीक-ठाक करने का वक़्त मिल जाये।

लॉरा का क्लोज़ शॉट।

लॉरा : धन्यवाद, डॉली।

वह अपना सिर टिका लेती है और आँखें बन्द कर लेती है। रेल के डिब्बे की पृष्ठभूमि धुंधलाती है और एक धुंधली गति बन जाती है। ट्रेन की आवाज़ लुप्त हो जाती है और उसकी जगह संगीत ले लेता है।

लॉरा की आवाज़ : यह नहीं चल सकता। यह दुख और नहीं चल सकता। मुझे यह याद रखना होगा और अपने पर काबू रखना होगा। वास्तव में कुछ भी देर तक नहीं टिकता न सुख न दुख— ज़िंदगी भी ज्यादा देर तक नहीं टिकती। भविष्य में एक ऐसा समय आयेगा जब मैं इस बारे में बिलकुल चिंता नहीं करूंगी, जब मैं पीछे देखूँगी और शांति और प्रसन्नता में कह सकूँगी— **मैं कितनी बेवकूफ़ थी** नहीं नहीं... मैं नहीं चाहती कि ऐसा समय कभी आये— मैं एक-एक पल याद रखना चाहती हूँ— हमेशा-हमेशा मरते दम तक।

लॉरा के सिर को झटका लगता है जब ट्रेन रूकती है।

डॉली (दूर) : उठो लॉरा, हम पहुँच गये।

(साथ ही डिब्बे की पृष्ठभूमि फिर से सामान्य हो जाती है। स्टेशन की बत्तियाँ लॉरा के चेहरे पर गुज़रती हैं। संगीत थम जाता है और ब्रेक लगने की आवाज़ आती है। द्वारपाल की आवाज़ सुनायी देती है।
द्वारपाल (दूर) : केचवर्थ-केचवर्थ-केचवर्थ।

डिज़ॉल्व केचवर्थ स्टेशन पर। रात का वक़्त है। लॉरा और डॉली प्लेटफ़ॉर्म पर साथ-साथ जा रही हैं, खड़ी हुई रेल की रोशनी उनके चेहरे पर पड़ रही है।

डॉली : मैं तुम्हारे साथ आसानी से चल सकती हूँ। मुझे ज्यादा चक्कर भी नहीं पड़ेगा। मुझे बस एलमोर लेन के पार ग्रामर स्कूल के पास से होकर ही तो जाना पड़ेगा और मैं दो मिनट में घर पहुँच जाऊँगी।
लॉरा : डॉली, तुम बहुत अच्छी हो पर मैं अब बिलकुल ठीक हूँ, ट्रेन में आयी झपकी ने तो कमाल कर दिया,
डॉली : सचमुच?
लॉरा : बिलकुल। लॉरा और डॉली बैरियर पार करती हैं जहाँ वे अपने टिकट देती हैं। सीटी बजती है और ट्रेन के स्टेशन छोड़ने की आवाज़ आती है। वे स्टेशन यार्ड में रुकती हैं।

लॉरा : मेहरबानी का शुक्रिया।
डॉली : कैसी बातें करती हो, डियर खैर... मैं कल सुबह फ़ोन करके देखूँगी कि तुम्हारी तबीयत फिर से तो ख़राब नहीं हो गयी।
लॉरा : मैं तुम्हें निराश ही करूँगी। (वह डॉली को चूमती है) गुडनाईट।
डॉली : गुडनाईट— फ़्रेड और बच्चों को प्यार कहना।

डिज़ॉल्व लॉरा के घर के बाहर के हिस्से पर।। लॉरा एक सुदृढ़ आरामदेह घर के दरवाज़े की ओर बढ़ती दिख रही है। जैसे ही वह गेट में घुसती है, वह चाबी के लिये हैण्डबेग में हाथ डालती है, निकालती है, आगे का दरवाज़ा खोलती है और अन्दर चली जाती है।
हॉल में देखने पर, लॉरा अगले दरवाज़े से प्रविष्ट होती है, इधर-उधर देखती है, धीमे से दरवाज़ा बंद करती है और शॉट के बाहर सीढ़ियों की तरफ़ चलने लगती है।
शॉट के आगे के हिस्से में एक आदमी का हैट और कोट टँगा हुआ दिख रहा है दूर सीढ़ियाँ हैं और बैठक की ओर जाने वाला खुला दरवाज़ा।
लॉरा फ़्रेड में आती है और सीढ़ियाँ चढ़ना शुरू कर देती है।

फ़्रेड (दूर बैठक से) : कौन, लॉरा?
लॉरा सीढ़ियों पर रुकते हुये : हाँ डियर।
फ़्रेड (दूर) : शुक्र है तुम आ गयीं, घर में तूफ़ान मचा हुआ है।
लॉरा क्यों क्या हो गया?
फ़्रेड (दूर) : बॉबी और मॉग्रेट में फिर झगड़ा हो गया है और वे तब तक नहीं सोयेंगे जब तक कि तुम उनके पास जाकर उनके झगड़े का निपटारा न कर दो।
मॉग्रेट (दूर) : मम्मी-मम्मी। तुम आ गयीं मम्मी।
लॉरा : हाँ, डियर।
बॉबी (दूर ऊपर से) : मम्मी, ऊपर आओ, मुझे तुमसे कुछ कहना है।
लॉरा : (फिर से ऊपर सीढ़ियों की तरफ़ जाते हुये) ठीक है, मैं आती हूँ, पर तुम दोनों हो बड़े शैतान। अब तक तो तुम को गहरी नींद में होना चाहिए था।...
ऊपर पहुँचकर लॉरा बच्चों के सोने के कमरे के अधखुले दरवाज़े तक पहुँचती है। दरवाज़े से देखने पर दो छोटे पलंग दिखते हैं। कमरे में अंधेरा है और दरवाज़े में लॉरा की परछाईं दिखती है।

लॉरा : अब क्या हो गया, बताओ तो सही?
बॉबी : बात ये है मम्मी कि कल मेरा जन्मदिन है और मैं चाहता हूँ कि अपन सर्कस चलें। और कल मार्ग्रेट का जन्मदिन नहीं है और वह चाहती है कि अपन पेन्टोमाइम देखने चलें। यह तो ठीक बात नहीं है। मम्मी है न?
मार्ग्रेट : यह कोई बात हुई कि कल अगर इसका बेहूदा सा जन्मदिन है तो हम वहीं करें जो बॉबी चाहता है। इसके अलावा मेरा बर्थडे जून में है और जून में

तो पेन्टोमाइम होते नहीं है।

बॉबी (आग्रह से) : मम्मी, अंदर आओ न, मेरे बिस्तरे पर बैठो तो सही।

मार्ग्रेट : नहीं बॉबी, आज मम्मी मेरे बिस्तर पर बैठेगी। कल रात को ही तो वह तुम्हारे बिस्तर पर बैठी थी।

लॉरा : मैं तुममें से किसी के बिस्तर पर नहीं बैठने वाली। वास्तव में मैं तो कमरे में ही नहीं घुसूँगी। काफ़ी रात हो चुकी है और अगर तुम झटपट नहीं सो जाते तो मैं डैडी से बोल दूँगी कि तुम्हें दोनों जगहों में से कहीं भी न ले जायें।

बॉबी और मार्ग्रेट साथ-साथ : ओह, मम्मी।

डायनिंग रूम के अन्दर डिज़ॉल्व लॉरा और उसके पति फ्रेड का क्लोज़ शॉट, फ्रेड चालीस-बयालीस का एक खुशनुमा आदमी है। वह एक गोल डायनिंग टेबल पर बैठकर खाना खत्म कर रहा है। लॉरा कोना मशीन चला रही है। (स्टिल) डायनिंग रूम अच्छी तरह से सजा है पर बिना **आलोकाकिता** के।

फ्रेड : क्यों न हम उन्हें दोनों जगह दिखा लायें। एक दोपहर में और दूसरी शाम को?

लॉरा : तुम जानते हो यह असंभव है। हमें घर आने में आधी रात हो जायेगी— और वे थक जायेंगे और लड़ने भी लगेंगे।

फ्रेड : तो फिर यह ठीक रहेगा कि एक दिन एक जगह चलें, दूसरे दिन दूसरी जगह।

लॉरा (कॉफी का कप देते हुये) : यही तो डियर तुम मुझसे कहते रहते हो कि मैं बच्चों को बिगाड़ रही हूँ। असलियत तो यह है कि अगर मैं उन्हें तुम्हारी कृपाओं पर छोड़ दूँ तो एक ही महीने में उनके चरित्र का बंटाढार हो जायेगा।

(लॉरा का क्लोज़ शॉट)

लॉरा : सर्कस या पेन्टोमाइम?

फ्रेड (दूर) : कहीं नहीं! हम उन दोनों की अच्छी तरह ठुकाई करके उन्हें कमरे में बन्द करके ताला लगा देंगे और खुद सिनेमा देखने चले चलेंगे।

(लॉरा की आँखें सहसा आँसुओं से भर जाती हैं)

लॉरा : ओह, फ्रेड ?

फ्रेड का क्लोज़ शॉट

फ्रेड : आख़िर बात क्या है?

लॉरा (पागलों की तरह आँखें पोंछती है) : कुछ नहीं, सच में, कुछ भी नहीं।

(फ्रेड उठकर उसके पास आता है। वह उसे अपनी बाँहों के घेरे में भर लेता है। फ्रेड और लॉरा का क्लोज़ शॉट)

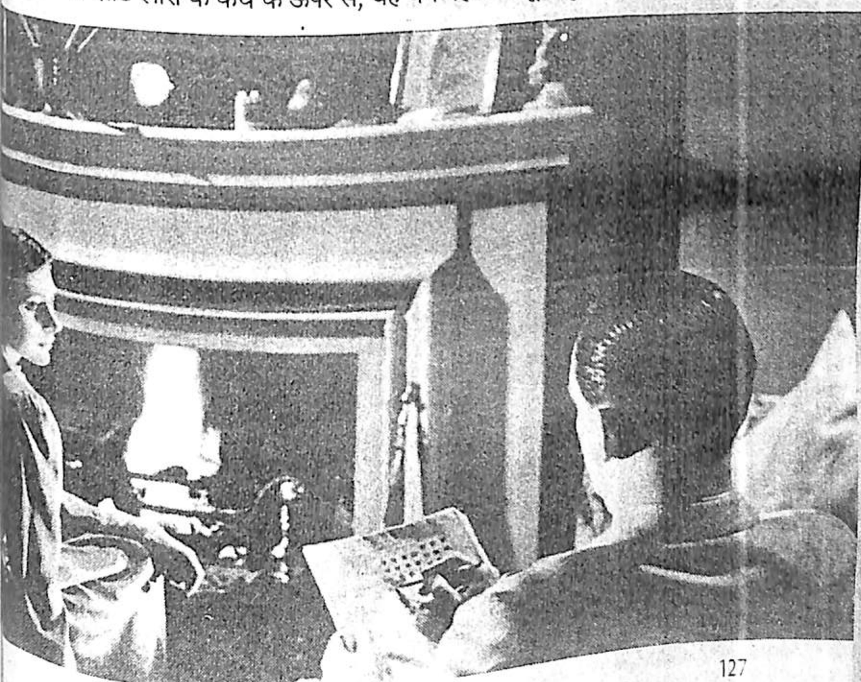
फ्रेड : डार्लिंग— सब ठीक तो है प्लीज़ मुझे बताओ न...

लॉरा : सचमुच कहीं कुछ भी तो नहीं है मैं ज़रा थकी हुई हूँ। मिलफ़ोर्ड में जलपान गृह में मुझे चक्कर आ गया था, कितने शर्म की बात है। डॉली मेसिटर मेरे साथ थी और वह बतियाती रही जब तक कि मैं उसका गला घोंटने की संभावनाओं पर विचार नहीं करने लगी— पर फिर भी वह मेरा भला ही चाहती थी— कितनी

भयावह बात है उन लोगों के लिये जो दूसरों का भला चाहते हैं?
फ्रेड (मद्धिम स्वर से) : क्या तुम सोना पसन्द करोगी?
लॉरा : नहीं फ्रेड वास्तव में...
फ्रेड : तो फिर आओ, लायब्रेरी में चलकर आग के पास बैठो और आराम कर लो— तुम टाइम्स वर्ग पहेली हल करने में मेरी मदद कर सकती हो।
लॉरा (मुस्कराने का प्रयास करते हुए) : आराम करने के तुम्हारे बड़े अजीब तरीक़े हैं।
: यह बात हुई न।
लॉरा उसकी बांहों में सिमटी हुई उठती है, डिज़ॉल्व लाईब्रेरी के अंदर और लॉरा आग के एक-एक तरफ बैठे हुये हैं फ्रेड अग्रभाग में है। उसकी गोद में द टाइम्स है जिसका वर्ग पहेली वाला पेज खुला हुआ है. (स्टिल)
उसके हाथ में एक पेंसिल है लॉरा कुछ सिल रही है। लायब्रेरी का वातावरण आरामदेह और अंतरंग है।
लॉरा और फ्रेड के अकेले-अकेले क्लोज़ शॉट, जब वे बोलते हैं।
फ्रेड : तुम्हें चक्कर कैसे आ गये? मेरी तो कुछ समझ में नहीं आता।
लॉरा : क्या बातें करते हो, डार्लिंग— तुम तो जानते ही हो मुझे अक्सर चक्कर आते ही रहते हैं। क्या तुम भूल गये बॉबी के स्कूल कन्सर्ट वाला दिन और जिस दिन एलीन की शादी हुई थी और उस वक्त जब तुम टाउन हॉल में हो रहे सिम्फनी कन्सर्ट में चलने के लिये मुझ पर ज़ोर डाल रहे थे।
फ्रेड : पर वह तो नकसीर फूटी थी।
लॉरा : मुझे लगता है मैं इसी तरह की बीमार औरत हूँ। यह बड़ा ही शर्मनाक है।
फ्रेड : मैं तो अब भी कहता हूँ कि अगर तुम डॉक्टर ग्रेव्ज़ को दिखा दो तो इसमें कोई बुराई नहीं।
लॉरा (थोड़ा गरजते हुये) : समय बरबाद होने के सिवा उसका कोई नतीज़ा नहीं निकलेगा।

फ्रेड उसकी तरफ देखता है।
लॉरा : अब छोड़ो भी डियर, तुम तो ज़रा सी बात का बतंगड़ बनाये दे रहे हो। मैं शॉपिंग कर रही थी, थकी हुई थी। फिर जलपान गृह में गर्मी बहुत थी और अचानक मेरा जी ख़राब हो गया। इससे ज़्यादा कुछ नहीं, सच में इससे ज़्यादा कुछ नहीं। अब तुम अपनी पहेली में जुट जाओ और मुझे आराम करने दो।
फ्रेड : ठीक है, जैसा तुम चाहो (थोड़ा रुक कर) तुम तो कविताओं की दीवानी हो— ज़रा मेरी मदद करो ना— कीट्स की पंक्तियाँ हैं— 'When i behold upon the night starred face, huge cloudy symlrels of a night'- अगला शब्द क्या होगा, सात अक्षरों वाला?
लॉरा सप्रयास : Romance मुझे लगता है— मुझे यकीन है, यही है huge cloudy symlrels of a high Romance ऑक्सफ़ोर्ड बुक ऑफ़ इंग्लिश वर्स में तुम्हें मिल जायेगा।
फ्रेड : नहीं, नहीं, ठीक है, यही होगा यह 'delesium' और 'Baluchistan'

साथ फ़िट भी होता है।
रा : तुम्हें संगीत से कोई दिक्कत तो नहीं होगी।
ड : नहीं तो, मुझे अच्छा ही लगेगा।
रा कमरे की दूसरी तरफ जाती है। रेडियो चालू करती है और अपनी कुर्सी पर ट आती है। रैकमैनिनॉफ़ कन्सर्टो इन सी माइनर की शुरूआत सुनाई देती है।
रा का क्लोज़ शॉट, वह सिलाई की चीज़ें हाथ से लेती है, रख देती है और पने पति को देखती है।
ड का क्लोज़ शॉट, वह ध्यान केंद्रित करने में लगा है। और पेंसिल से अपना र खुजाये जा रहा है।
रा का क्लोज़ शॉट, उसकी आँखे दुबारा भर आती है उसका मुँह बन्द है पर उसके विचार सुनाई देते हैं।
रा का स्वर : फ़्रेड–फ़्रेड-डियर फ़्रेड मैं तुमसे बहुत कुछ कहना चाहती हूँ। तुम्हीं एक हो इस संसार में जिसमें इतनी बुद्धि और शराफ़त है जो तुम इस बात समझ सको— कि यह मेरी नहीं किसी और की कहानी होती। अब जो स्थिति उसमें तुम ही संसार में अकेले आदमी हो जिसे में कभी नहीं बना सकती— भी नहीं— क्योंकि यदि मैं बुढ़ापे का इंतज़ार भी करूँ और तुम्हें तब बताऊँ तो अतीत की याद करने को विवश हो जाओगे— और आहत महसूस करोगे र मैं नहीं चाहती, प्रिय कि तुम खुद को कभी आहत महसूस करो। हम विवाहित र सुखी युगल हैं और हमें यह बात कभी नहीं भूलना चाहिये। यह मेरा घर ... फ़्रेड का शॉट लॉरा के कंधे के ऊपर से, वह वर्ग पहेली में डूबा हुआ है।



लॉरा की आवाज़ : तुम मेरे पति हो और मेरे बच्चे ऊपर सो रहे हैं। मैं एक सुखी विवाहित महिला हूँ— या कुछ हफ़्तों पहले तक थी। यह मेरा पूरा संसार है और यह पर्याप्त था कुछ हफ़्तों पहले तक। लॉरा का क्लोज़ शॉट।

लॉरा की आवाज़ : पर, ओह, फ़्रेड मैं भी मूर्ख की मूर्ख ही रही। मैं किसी से प्यार करने लगी थी। मैं हूँ एक साधारण औरत— और मुझे मालूम नहीं था कि इतनी प्रचण्ड भावनाएँ साधारण लोगों के जीवन को भी तहस-नहस कर सकती हैं।

फिर फ़्रेड का शॉट लॉरा के कंधे से।

लॉरा की आवाज़ : यह सब शुरू हुआ एक साधारण दिन संसार के सबसे साधारण स्थान पर। लॉरा को छोड़कर पूरा दृश्य धुंधलाने लगता है। लॉरा अग्रभाग में एक ठोस आकृति बनी रहती है। जैसे ही कमरा धुंधलाता है, स्टेशन का जलपान गृह उसकी जगह ले लेता है। लॉरा पिक्चर के अग्रभाग में रहने के साथ ही साथ जलपान गृह में एक मेज़ पर भी बैठी है, जिससे यह आभास होता है कि वह खुद को देख रही है, डिज़ॉल्व।

समय है शाम के लगभग 5.30 बजे। दृश्य मिलफ़ोर्ड जंक्शन स्टेशन के जलपान गृह में स्थित है। कमरे में दो तीन और लोग हैं। मिर्टल और बेरिल काउंटर के पीछे हैं, जिससे सटकर अल्बर्ट खड़ा हुआ इत्मीनान से चाय की चुस्कियाँ ले रहा है।

लॉरा की आवाज़... मिल्फ़ोर्ड जंक्शन का जलपान गृह। मैं चाय पीते-पीते एक पुस्तक पढ़ रही थी जो मैं उसी सुबह बूट्स से लायी थी। ट्रेन के आने में दस मिनट का वक्त था... मैंने देखा कि एक आदमी प्लेटफ़ॉर्म की तरफ़ से आ रहा था। उसने एक साधारण बेल्ट वाली बरसाती पहन रखी थी। उसका हैट झुका हुआ था और मैं उसका चेहरा नहीं देख पायी। उसने काउंटर से चाय ली और पलटा— और तब मैंने उसका चेहरा देखा। चेहरा तो अच्छा था वह मेरी मेज़ के पास से होता हुआ अपनी मेज़ पर पहुँचा। काउंटर वाली महिला हमेशा की तरह बतिया रही थी। तुम्हें मैंने उस दिन उसके बारे में बताया था न, वही जिसकी बड़ी साफ़ आवाज़ है.... कट काउंटर पर मिर्टल, बेरिल और अल्बर्ट पर।

बेरिल : मिनी ने तो दूध छुआ ही नहीं।

मिर्टल : क्या तुमने उसके सामने रखा था?

बेरिल : हाँ, पर वह पास तक नहीं फटकी।

अल्बर्ट : (बातूनी अंदाज में) जानवरों का शौक है आपका?

मिर्टल : हाँ कुछ-कुछ।

अल्बर्ट : मेरी मकान मालकिन तो जानवरों के पीछे पूरी पागल है, पागल- उसके पास दो बिल्लियाँ हैं, एक मैंकस और एक साधारण; किचिन में तीन खरगोश हैं जो उसके छोटे बच्चे की संपत्ति हैं; और एक बेवकूफ़-सा दिखने वाला कुत्ता है जिसकी आँखों पर बाल ही बाल हैं।

मिर्टल : मुझे मालूम नहीं है तुम किस ब्रीड के कुत्ते का ज़िक्र कर रहे हो?

अल्बर्ट : यह तो उस कुत्ते को भी नहीं मालूम होगा....

कट लॉरा पर, जो घड़ी पर नज़र डालती है और आरा से अपनी पार्सलें समेटती है।

मिर्टल (दूर) : वेरिल जाओ नम्बर तीन को साफ़ करो। वहीं कुछ टुकड़े पड़े दिख रहे हैं। लॉरा प्लेटफ़ार्म नंबर दो की तरफ़ वाले दरवाज़े की ओर बढ़ती है।

अल्बर्ट (दूर) : मेरा दूसरा कप? मुझे अब चलना चाहिये-पाँच-पैंतालीस। बस् एक मिनिट में आती ही होगी।

मिर्टल (दूर) : गेट पर कौन है?

अल्बर्ट (दूर) : यंग विलियम।

बाहर, एक्सप्रेस मिलफ़ोर्ड जंक्शन स्टेशन पर धड़धड़ाती हुई प्रविष्ट होती है। लॉरा प्लेटफ़ार्म पर खड़ी है। उसके पीछे जलपान गृह की खिड़कियाँ हैं। एक्सप्रेस की बत्तियाँ उसके चेहरे पर पड़ती हैं। वह सहसा अपना हाथ अपने चेहरे की ओर ले जाती है क्योंकि उसकी आँख में कंकड़ चला गया है। वह सामान निकालती है अपनी आँख को कुछ देर तक मलती है, पलटती है और वापस जलपान गृह में प्रविष्ट होती है। मिर्टल शॉट के अग्रभाग में है।

लॉरा दरवाज़े से आती है, काउंटर पर अल्बर्ट के पास खड़ी हो जाती है, जो अपना दूसरा चाय का कप पी रहा है। वह अपनी आँख मलती है, (स्टिल)।

लॉरा : प्लीज़, क्या आप मुझे एक गिलास पानी दे सकती हैं। मेरी आँख में कुछ चला गया है।

मिर्टल : ज़रा देखूँ।

लारा: प्लीज़ आप तकलीफ़ न करें, मुझे लगता हैं पानी से निकल जायेगा।

मिर्टल (गिलास देते हुये) : यह लीजिये।

मिर्टल और अल्बर्ट चुपचाप लॉरा को आँख धोते हुये देखते हैं।

अल्बर्ट : मेरे ख़्याल में कोयले की कंकड़ी होगी।

मिर्टल : मेरी पहचान के एक आदमी की तो आँखें ही चली गयीं थीं और इसकी वज़ह थी कोयले की छोटी सी कंकड़ी।

अल्बर्ट : बहुत बुरी चीज़ है— बहुत ही बुरी....

मिर्टल : (जैसे ही लॉरा अपना सिर उठाती है) आराम मिला?

लॉरा (स्पष्टतः दर्द में) : नहीं— ओह!

अलेक आता है।

अलेक : क्या मैं कुछ मदद कर सकता हूँ?

लॉरा : ओह, नो प्लीज़-बस मेरी आँख में कुछ चला गया है।

मिर्टल : अपनी पलक अधिक से अधिक झुकाने की कोशिश करो।

अल्बर्ट : और फिर नाक साफ कर लो।

अलेक : प्लीज़ मुझे देखने दीजिये, मैं पेशे से एक डॉक्टर हूँ।

लॉरा : प्लीज़।

अलेक : रोशनी की तरफ घूमिए।

लॉरा और अलेक का क्लोज़ शॉट।

अलेक : अब-ऊपर देखिये— अब नीचे देखिये, मुझे दिख गया, हिलना मत.... वह अपने रुमाल के कोने को मोड़ता है और तेज़ी से उसका इस्तेमाल करता है।

अलेक : यह लो....

लॉरा (आँखें मिचकाते हुये) : ओह, डियर कितना आराम मिला— यह तो बड़ी पीड़ा दे रहा था।

अलेक : यह तो कोयले की कंकड़ी मालूम होती है।

लॉरा : यह एक्सप्रेस जाने के समय की बात है। बहुत-बहुत धन्यवाद।

अलेक : कोई बात नहीं।

(प्लेटफ़ॉर्म पर घंटी की आवाज़)

अल्बर्ट (दूर) : वह लो— मुझे भागना पड़ेगा।

लॉरा : यह मेरा सौभाग्य था कि आप उस समय यहाँ मौजूद थें।

अलेक : यह तो कोई भी कर सकता था।

लॉरा : उससे कोई फर्क नहीं पड़ता। यह आपने किया है और मैं आभारी हूँ।

अलेक : वह रही मेरी ट्रेन— गुड बाय।

अलेक प्लेटफ़ॉर्म नंबर तीन के दरवाज़े की ओर जाता है।

बाहर, वह जलपान गृह से बाहर आता है, ज़ल्दी-जल्दी प्लेटफ़ॉर्म पर चलता है और नीचे उतर जाता है। लॉरा भी जलपान गृह के दरवाज़े से प्लेटफ़ॉर्म नंबर चार पर आ जाती है। वह सामने वाले प्लेटफ़ॉर्म पर अलसायी नज़र डालती है और अलेक को देखती है। वह कुछ कदम चलता है। उसकी ट्रेन स्टेशन में आती है और वह दिखायी नहीं देता। लॉरा का क्लोज़ अप। वह ट्रेन को रुकते हुये देखती है।

लॉरा की आवाज़ : तो इस तरह शुरू हुआ यह सब— मेरी आँख में फँसी कोयले की एक छोटी-सी कंकड़ी की वजह से।

लॉरा ऊपर की तरफ देखती है और अपनी ट्रेन के आने की आवाज़ सुनती है। प्लेटफ़ॉर्म नंबर तीन और चार का शॉट। अलेक की ट्रेन का इंजन पृष्ठभाग में है। लॉरा की ट्रेन छुकछुक करती प्लेटफ़ॉर्म नंबर तीन में आ जाती है और इसे दृष्टि से ओझल कर देती है।

लॉरा के डिब्बे की खिड़की के बाहर से हम लॉरा को बैठते हुए, पुस्तक खोलते हुए और पढ़ना शुरू करते हुए देखते हैं।

लॉरा की आवाज़ : मैं उस घटना को पूरी तरह भूल गयी थी— मेरे लिए याद रखने में कोई तुक नहीं था। कम से कम मैंने ऐसा नहीं सोचा था कि बात आगे बढ़ेगी। गार्ड की सीटी की आवाज़ आती है और ट्रेन चलना शुरू करती है, फ़ेड आउट। स्क्रीन के काला होने के साथ ही हम लॉरा की आवाज़ सुनते हैं।

लॉरा की आवाज़ : हमेशा ही की तरह अगले बृहस्पतिवार को मैं फिर मिलफ़ोर्ड गयी... फ़ेड इन मिलफ़ोर्ड हाई स्ट्रीट पर जहाँ लॉरा शॉपिंग की बास्केट उठाये चल रही थी। वह अपनी शॉपिंग की लिस्ट से बास्केट की वस्तुओं का मिलान करती है और खरीदारी का अगला सामान लेने का निश्चय करते ही उसके कदम तेज़

हो जाते हैं। डिज़ॉल्व।
हम बूट्स केमिस्ट की दुकान में हैं। लॉरा लायब्रेरी सेक्शन से दूर एक काउंटर पर जाती है जहाँ साबुन, टूथब्रश आदि रखे हैं।
लॉरा की आवाज़ : मैंने बूट्स के यहाँ किताबें बदलीं— मिस लुईस आख़िरकार केट और ब्रायन की नयी किताब मेरे लिये रखने में कामयाब हो गयीं थीं। मुझे यकीन था कि उन्होंने इसे काउंटर के नीचे दो दिन तक छिपाये रखा था बाहर आते समय मैंने बच्चों के लिये दो नये टूथब्रश खरीदे— मुझे किसी भी और दुकान के बजाय केमिस्ट की दुकान की गंध अच्छी लगती है— यह कितनी अच्छी चीजों के मेल से उत्पन्न होती है— जड़ी-बूटी, सेंट, साबुन....
काउंटर के कोने पर मिसेज़ लेफ़्टविच का क्लोज़ शॉट।
लॉरा की आवाज़: .. दूसरे कोने पर खड़ी मिसेज़ लेफ़्टविच सबसे मूर्खतापूर्ण हैट पहने खड़ी थीं। कट लॉरा पर, जो अपने शॉपिंग बैग में टूथब्रश रख रही है और काउंटर छोड़ रही है।
लॉरा की आवाज़ : सौभाग्य से उसने ऊपर नहीं देखा, इसलिये उसकी बकवास सुनने से पहले ही मैं चल पड़ी। जैसे ही मैंने सड़क पर कदम रखा....
डिज़ाल्व लॉरा पर जो बूट्स की दुकान से बाहर निकल रही है। अलेक ज़रा तेजी से चला आ रहा है। वह नीचे की ओर झुका हैट पहने है, वह उसे पहचान लेता है, रुकता है और हैट उठाकर अभिवादन करता है।
अलेक : गुड मॉर्निंग।
लॉरा (थोड़ा उछलते हुये) : ओह, गुड मॉर्निंग।
अलेक : अब कैसी है आपकी आँख (स्टिल)?
लॉरा : बिलकुल ठीक। आपने उस दिन मेरे लिये कितना कष्ट किया था?
अलेक : उसमें कष्ट की क्या बात थी?

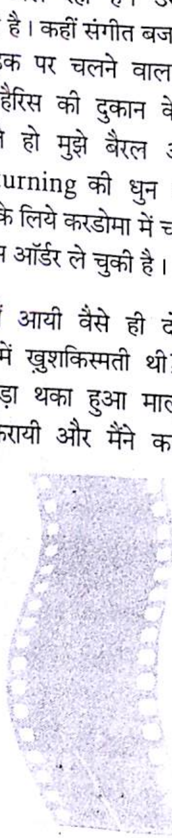
थोड़ा अंतराल के बाद।
अलेक : मौसम छँट रहा है, नहीं क्या?
लॉरा : हाँ आसमान अब ज़्यादा साफ़ है— है न?
अलेक : तो मुझे अस्पताल चलना चाहिये।
लॉरा : और मैं चलती हूँ किराने की दुकान पर।
अलेक (मुस्कराते हुये) : हम लोग कितनी रोमांचक ज़िंदगी जीते हैं, नहीं क्या?
गुड बाय। डिज़ॉल्व सुरंगपथ के अंदर। रात का समय है। लॉरा की साँस ज़रा फूली है वह चल रही है।
लॉरा की आवाज़ : उस दोपहर मैं हमेशा की तरह पैलेडियम गयी थी, पर वह बड़ी लंबी फ़िल्म थी और जब मैं बाहर निकली तो मुझे स्टेशन तक भागकर आना पड़ा। लॉरा प्लेटफ़ॉर्म नंबर तीन की ओर जाने वाली सीढ़ियों पर चढ़ना शुरू करती है। वह सुरंगपथ से प्लेटफ़ॉर्म पर आ जाती है।
लॉरा की आवाज़ : जैसे ही मैं प्लेटफ़ॉर्म पर आयी, शर्ली की ट्रेन धुँआ उड़ाती जा ही रही थी।

कट ट्रेन पर जो प्लेटफ़ॉर्म नंबर चार छोड़ रही है।
लॉरा का क्लोज़ शॉट जो शर्ली ट्रेन को देख रही है।

लॉरा की आवाज़ : मैंने अलसायी नज़रों से डिब्बों की खिड़कियाँ देखीं और सोचने लगी। क्या इस ट्रेन में वह होगा.... मुझे याद है कि मेरे दिमाग में यह बात आयी थी कि यह एक महत्वहीन बात थी— मैं दरअसल दूसरी बातों में उलझी हुयी थी— तुम्हारे जन्मदिन के तोहफ़े ने मुझे चिन्ता में डाल दिया था। वह ख़ासा महँगा था, पर मैं जानती थी तुम्हें उसकी ज़रूरत है और इसीलिए मैंने स्पिंक और रॉबसन के यहाँ अगले गुरुवार तक पैसे जमा करा दिए थे। अगले गुरुवार....
डिज़ॉल्व स्पिंक और रॉबसन के अंदरूनी हिस्से पर एक यात्री घड़ी का क्लोज़ अप जिसमें बैरोमीटर और तारीखें भी हैं। यह एक काँच के शो केस पर रखी हुई हैं।

लॉरा इसे सराहने वाली नज़रों से देख रही है।
लॉरा की आवाज़ : वेल, मैंने अपने भय और संकोच को दबा लिया और सोचा कि इसे पाकर तुम कितने खुश होओगे और इसे खरीद लिया— मैं जानती थी यह फ़िज़ूलख़र्ची है, पर अपराध कर लेने के बाद मैंने सहसा अपने आपको चिन्तामुक्त और प्रसन्न महसूस किया।
डिज़ॉल्व मिलफ़ोर्ड हाई स्ट्रीट पर। लॉरा सड़क पर चल रही है। उसके हाथ में एक छोटा पार्सल है। धूप बिखरी हुई है और वह मुस्कुरा रही है। कहीं संगीत बज रहा है।
लॉरा की आवाज़ : सूरज निकला हुआ था और सड़क पर चलने वाला हर आदमी हमेशा से अधिक खुश नज़र आ रहा था— और हैरिस की दुकान के पास वाले कोने में बैरल ऑर्गन बज रहा था। तुम तो जानते हो मुझे बैरल ऑर्गन सुनना पसंद है। Let the great big world keep turning की धुन बज रही थी और मैंने उस आदमी को सिक्स पेंस और दे दिये और लंच के लिये करडोमा में चली गयी।
डिज़ॉल्व करडोमा कैफ़े के अंदर। लॉरा मेज़ पर बैठी है वेट्रेस ऑर्डर ले चुकी है।

लॉरा की आवाज़ : काफी भीड़ थी, पर जैसे ही मैं आयी वैसे ही दो लोग मेज़ पर से उठे— खुशकिस्मती थी। नहीं क्या? क्या सच में ख़ुशकिस्मती थी? मेरे ऑर्डर देने के ठीक बाद, मैंने उसे आते हुये देखा। वह थोड़ा थका हुआ मालूम पड़ रहा था। कोई और मेज़ खाली नहीं थी इसलिये मैं मुस्करायी और मैंने कहा....
लॉरा : गुड मॉर्निंग।



अलेक का क्लोज़-अप।
अलेक : गुड मॉर्निंग। आप अकेली हैं?

लॉरा और अलेक पर दुबारा।
लॉरा : हाँ

अलेक : क्या मैं आपकी मेज़ पर बैठ सकता हूँ। इतनी भीड़ है कि बैठने को कोई दूसरी जगह है ही नहीं।

लॉरा : अपने बैग और दो पार्सलों को हटाते हुये : बैठिए न।

अलेक अपना टोपा और बरसाती टांगता है और उसके पास बैठ जाता है।

अलेक : ताज़्जुब की बात है, हम लोगों का अभी ठीक से परिचय नहीं हुआ है। मैं हूँ अलेक हार्वे।

लॉरा हाथ मिलाते हुये : और मैं लॉरा जैसन।

अलेक : मिसेज़ या मिस?

लॉरा : मिसेज़। आप एक डॉक्टर हैं, नहीं क्या? मुझे याद है आपने उस रोज़ जलपान गृह में कहा था।

अलेक : हाँ, पर कोई बहुत रोचक या बड़ा डॉक्टर नहीं हूँ मैं— बस एक साधारण सा जनरल प्रेक्टिशनर। मेरी प्रेक्टिस शर्ली में है।

मेज़ पर वेट्रेस आती है।

वेट्रेस : आपके लिये?

अलेक लॉरा से : आपने क्या बुलवाया है?

लॉरा : सूप और भुनी मछली।

अलेक (वेट्रेस से): मेरे लिये भी यही।

वेट्रेस : कुछ पियेंगे?

अलेक : नो, थेंक्यू।

अलेक रुकता है और लॉरा को देखता है।

अलेक : क्या आप कुछ पीना पसंद करेंगे?

लॉरा : नहीं, धन्यवाद— सिर्फ़ सादा पानी।

अलेक वेट्रेस से : सादा पानी, प्लीज़।

जैसे ही वेट्रेस जाती है, लेडीज़ आर्केस्ट्रा तेज़ आवाज़ में शुरू हो जाता है। लॉरा उछल पड़ती है।

कट लेडीज़ आर्केस्ट्रा पर। वे उत्साह से बजा रहे हैं। लॉरा और अलेक का क्लोज़ शॉट। दोनों हँसते हैं। अलेक लॉरा की नज़र समझ लेता है और आर्केस्ट्रा की सेलो बजाने वाली को देखकर सिर को झटका देता है। सेलो का क्लोज़ शॉट। वह आर्केस्ट्रा की सबसे मेहनती सदस्य है।

लॉरा की आवाज़ : मैंने उस औरत को पहले सैकड़ों बार बजाते हुये देखा है पर इससे पहले मैंने कभी ध्यान नहीं दिया था कि वह इतनी मज़ेदार दिखती है।

लॉरा और अलेक का क्लोज़ शॉट।

लॉरा : यह तो भयानक है, नहीं क्या— पर हमें हँसना नहीं चाहिये— वे हमें देख सकते हैं।

अलेक : ज़रूरत है एक ऐसी संस्था की जो वाद्यों पर हो रही क्रूरता पर रोक लगवा सके। आप पियानो तो नहीं बजातीं ना?

लॉरा : बचपन में मुझसे पियानो बजवाया जाता था।

अलेक : अब तो आपने छोड़ दिया होगा?

लॉरा (मुस्कराते हुये) हाँ, मेरे पति को संगीत का कोई शौक नहीं।

अलेक : भला हो उनका?

लॉरा : हो सकता है कि इसके बावजूद भी मुझमें जबर्दस्त व्यावसायिक प्रतिभा है।

अलेक (सिर हिलाते हुये) ओह डियर, नो।

लॉरा : आप इतने यकीन से कैसे कह सकते हैं?

अलेक : आप इतनी समझदार हैं और इतनी सीधी-सादी।

लॉरा (बैग में पाउडर की तलाश करते हुये) : मैं समझती हूँ, सीधा-सादा होना ही अच्छा है— पर यह थोड़ा बोझिल-सा लगता है।

अलेक : आप बोझिल हो ही नहीं सकतीं।

लॉरा : क्या आप हर गुरुवार यहाँ आते हैं?

अलेक : हाँ, एक दिन अस्पताल में बिताने के लिये। यहाँ के सबसे बड़े डॉक्टर स्टीफ़न लिन और हम साथ-साथ पढ़े हैं। मैं हफ़्ते में एक दिन उसकी जगह संभाल लेता हूँ। इससे उसे लंदन जाने का मौका मिल जाता है और मुझे मरीज़ों का अध्ययन करने का।

लॉरा : अच्छा।

अलेक : क्या आप भी?

लॉरा : मैं भी क्या?

अलेक : यहाँ हर गुरुवार आती हैं।

लॉरा : हाँ— मैं हफ़्ते भर की शॉपिंग करती हूँ, अपनी लायब्रेरी की पुस्तक बदलती हूँ, लंच लेती हूँ और आमतौर पर सिनेमा देखती हूँ। हालाँकि यह कोई बहुत रोमांचक दिनचर्या तो नहीं है, पर इससे चेंज तो हो ही जाता है।

अलेक : क्या आज दोपहर आप सिनेमा देखने जा रही हैं?

लॉरा : हाँ।

अलेक : कैसे संयोग की बात है? मैं भी सिनेमा देखने जा रहा था।

लॉरा : पर मैं सोचती थी कि आपको दिन भर अस्पताल में काम करना पड़ता होगा।

अलेक : बात अपने तक ही रखना, आज सुबह मेरे हाथ से दुर्घटनावश दो मरीज़ मर गये हैं और मैट्रन मुझसे बड़ी नाराज़ है। मुझमें इतनी हिम्मत नहीं है कि मैं वापस जाऊँ...

लॉरा : आप इतने लापरवाह कैसे हो सकते हैं।

अलेक : सीरियसली— वास्तव में इस सुबह का अधिकांश काम मैंने बड़े अच्छे से निपटा लिया है। अब इस बात से कोई फ़र्क नहीं पड़ता कि मैं थोड़ी कामचोरी कर लूँ। क्या मैं आपके साथ सिनेमा चल सकता हूँ?

लॉरा (झिझकते हुये): ऐ— मैं....

अलेक : मैं नीचे बैठ जाऊँगा और आप बालकनी में।
लॉरा : बालकनी कितनी महँगी है।

वह मुस्कराती है, आर्केस्ट्रा का संगीत बंद हो जाता है।
लॉरा की आवाज़ : आर्केस्ट्रा उतना ही अचानक बंद हुआ, जितना अचानक वह शुरू हुआ था। हम दुबारा हँसने लगे और तब मुझे अहसास हुआ कि मैं ज़िंदगी भर कितना लुत्फ़ उठा रही थी।
वेट्रेस सूप ले आती है।
लॉरा की आवाज़ : मुझे कोई अंदेशा नहीं था, हालाँकि मैं समझती हूँ मुझे होना चाहिये था। यह सब इतना स्वाभाविक लगता था— और इतना-इतना मासूम।
अलेक का क्लोज़ अप। लॉरा के कंधे पर से इसके ठीक बाद लॉरा का क्लोज़ अप अलेक के कंधे पर।
डिज़ाल्व प्लेट में रखे लंच के बिल के क्लोज़ शॉट पर। अलेक का हाथ नज़र आता है और उसे उठा लेता है। लॉरा का हाथ उसे उसके हाथ से लेने का प्रयास करता है।
लॉरा की आवाज़ : उस मूर्ख़ वेट्रेस ने हमारा बिल एक साथ ही जोड़ दिया।

लॉरा और अलेक का क्लोज़ शॉट।
अलेक : बिल मैं अदा करूँगा।
लॉरा : नहीं, मैं आपको ऐसा नहीं करने दूँगी।
अलेक : अपनी सोहबत आप पर थोपने के बाद यह उचित ही होगा कि बिल मैं अदा करूँ।
लॉरा की आवाज़ : हमने बड़े हिसाब से बिल को आधा-आधा किया यहाँ तक कि टिप हैं— बिलकुल— प्लीज़।
अलेक : तो यही सही।
लॉरा की आवाज़ : हमने बड़े हिसाब से बिल को आधा-आधा यहाँ तक कि टिप भी। लॉरा और अलेक मेज़ पर से उठते हैं और आर्केस्ट्रा फिर बजना शुरू हो जाता है। वे हँसते हुये रेस्टोरेंट से बाहर निकलने लगते हैं।
डिज़ॉल्व मिलफ़ोर्ड हाई स्ट्रीट पर।
कैमरा लॉरा और अलेक के साथ-साथ चलता है।

लॉरा : हमारे सामने दो पिक्चर हैं। **द लव्ज़ ऑफ़ कार्डिनल रिचलू** जो पैलेस में लगी है और पैलेडियम की **लव इन ए मिस्ट**।
अलेक : आपको खूब पता है।
लॉरा : और टिकिट खरीदने पर कोई बहस मत कीजियेगा। हम अपने-अपने टिकट खरीदेंगे।
अलेक : आपकी नज़र में शायद मैं बड़ा ही गरीब डॉक्टर होऊँगा जिसके बस में शायद दो टिकट खरीदना भी नहीं है।
लारा : मान लीजिए।
अलेक : मैंने सोचा था कि आप मुझे ट्रीट दे रही हैं।

लॉरा : तो कहाँ चला जाये— पैलेस या पैलेडियम?

अलेक (निर्णयात्मक स्वर में): पैलेडियम। मैं एक जहाज़ में बहुत बीमार पड़ गया था जिसका नाम था **कार्डिनल रिचलू।**

डिज़ॉल्व सिनेमा के भीतर, जहाँ हम पैलेडियम का अग्रमंच देखते हैं। स्क्रीन पर ट्रेलर दिखाया जा रहा है, जो आगामी आकर्षण का विज्ञापन है। चार भव्य शॉट के नीचे लिखे शब्द थे- Stupendoun? Collosal!!! Gigartic!!! Eproch Making!!!! एक लौ नज़र आती है, जिसके बाद आगामी पिक्चर का शीर्षक **फ़्लेम ऑव पेशन** आता है। ट्रेलर अचानक खत्म होता है और स्क्रीन पर पहला विज्ञापन आता है— बच्चा गाड़ी के एक चित्र के साथ यह शब्द आते हैं— *बच्चा गाड़ी बर्टन्स, 22, मिलफ़ोर्ड हाई स्ट्रीट पर ही खरीदें।*

लॉरा और अलेक का क्लोज़ शॉट जो बालकनी में आगे की लाइन में बैठे हैं। प्रोजेक्टर से निकलती रोशनी की किरण दृश्य के पृष्ठभाग में है।

लॉरा आगे झुकते हुये : मुझे यहाँ शानदार ढंग से बैठना आलीशान लग रहा है— यह तो तुम्हारी फिजूलख़र्ची ही थी।

अलेक : यह तो एक प्रसिद्ध विजय थी।

लॉरा : क्या तुम्हें अपराध बोध नहीं हो रहा? मुझे तो होता है।

अलेक : अपराध बोध?

लॉरा : तुम्हें तो मुझसे ज़्यादा होना चाहिये— तुम तो अपना दोपहर का काम छोड़कर आये हो।



अलेक : मैंने सुबह काफ़ी काम किया है—थोड़े से आराम से किसी को कभी नुकसान नहीं होता। क्या ज़रूरत है हम दोनों में से किसी को भी अपने को अपराधी मानने की?

लॉरा : मैं नहीं जानती।

अलेक : तुम कितनी अच्छी हो,

वाद्य संगीत का कर्णभेदी स्वर।

अलेक और लॉरा अग्रभाग में हैं। एक महिला वादक ऑर्केस्ट्रा पिट की गहराइयों से उठती है, और वाद्ययंत्र बजाती है जैसे उसका जीवन इसी बात पर निर्भर हो। वादक का क्लोज़ शॉट, जो श्रोताओं का अभिवादन स्वीकार कर रही है, यह वही है जो करडोमा कैफ़े में सेलो बजाती थी।

लॉरा और अलेक का क्लोज़ शॉट

लॉरा : यह नहीं हो सकता।

अलेक : ऐसा ही है।

वो दोनों ठहाका लगाकर हंस पड़ते हैं।

डिज़ॉल्व मिलफ़ोर्ड जंक्शन पर, जहाँ यार्ड और बुकिंग हॉल दिखते हैं। रात का समय है। कैमरा लॉरा और अलेक के साथ चलता है, जो स्टेशन यार्ड पार कर रहे हैं।

लॉरा की आवाज़ : हम स्टेशन की ओर वापस चल पड़े। जब हम बैरियर के पास पहुँच रहे थे, उसने मेरे हाथ के नीचे अपनी बांहें डाल दी थीं। मैंने इस पर तब ध्यान नहीं दिया था— हालाँकि यह बात मुझे अब याद आती है।

लॉरा : तुम्हारी पत्नी कैसी है?

अलेक : मैडलीन? ओह, नाटी, सांवली, नाज़ुक सी।

लॉरा : कितनी हास्यास्पद बात है। मैं सोचती थी उनका रंग गोरा होगा।

अलेक : और तुम्हारे पति- वे कैसे हैं?

वे प्रकाशमान बुकिंग हाल में प्रविष्ट होते हैं।

लॉरा : मध्यम कद, भूरे बाल, उदार, भावहीन और बिल्कुल भी नाजुक नहीं।

अलेक : तुमने यह बड़े गर्व में कहा है।

लॉरा : ऐसा क्या?

वे टिकिट बैरियर पार करते हैं जहाँ अल्बर्ट ड्यूटी पर है और फिर प्लेटफ़ार्म नंबर एक पर आ जाते हैं।

लॉरा : हमारे पास इतना वक़्त तो है ही कि अपनी ट्रेनों के आने के पहले एक-एक कप चाय पी लें।

डिज़ॉल्व रिफ्रेशमेन्ट रूम पर। काउंटर के पीछे से अग्रभाग में मिर्टल और बेरिल गपशप करते दिखाई दे रहे हैं, जबकि अलेक और लॉरा दरवाज़े से प्रविष्ट होते हैं। लॉरा शॉट के बाहर एक टेबल की तरफ चल देती है। अलेक काउंटर की तरफ़ आता है।

मिर्टल : और एक हफ़्ते में तीसरी बार वह उस साधारण आदमी और उसकी पत्नी को अपने घर ले आया और उसने किसी से पूछने तक की ज़रूरत भी नहीं समझी।

(अलेक से) : हाँ?

अलेक : दो चाय, प्लीज़

मिर्टल : केक या पेस्टी?

लॉरा (दूर) : नहीं, धन्यवाद।

अलेक : दो, प्लीज़ क्या ये Bath-buns ताज़े हैं?

मिर्टल : हाँ, आज ही सुबह तो बने हैं।

अलेक : दो, प्लीज़,

मिर्टल प्लेट में दो Bath-buns रखती है। इस बीच बेरिल ने चाय के दो कप भर लिये हैं।

मिर्टल : सब मिलाकर सात पेंस हुये।

अलेक : ठीक है।

वह पैसे देता है।

मिर्टल : चाय मेज़ पर रखो, बेरिल।

अलेक : मैं buns ले जाऊँगा।

लॉरा मेज़ पर बैठी है। बेरिल चाय लाती है जबकि अलेक buns लेकर उसके पीछे चला आता है।

अलेक : तुम्हें इनमें से एक खाना ही पड़ेगा। ताज़े हैं— आज ही सुबह के।

लॉरा : इनसे तो मोटापा बढ़ेगा।

अलेक : कैसी बेवकूफ़ी की बातें करती हो?

बेरिल दृश्य के बाहर काउंटर की तरफ जाती है।

बेरिल (दूर) : फिर क्या हुआ, मिसेज़ बैगॉट?

लॉरा अलेक का ध्यान मिर्टल और बेरिल की तरफ खींचने के लिये उसे कुहनी मारती है। काउंटर के पीछे मिर्टल और बेरिल का क्लोज़ शॉट।

मिर्टल (ज़रा इत्मीनान भरे अन्दाज में) : मैंने कहा, यह तो अच्छी बात हुई कि मुझसे यह, वह, सब-कुछ करने की उम्मीद की जाए, पर इतना करने के बदले में मुझे मिलता क्या है? अब मुझसे दिन में रसोइया, हाऊसकीपर और दिन भर खटने वाली नौकरानी बनने की उम्मीद तो नहीं करना चाहिए और इस पर शाम को यह चाहो कि मैं एक प्यारी पत्नी बन जाऊँ सिर्फ़ इसलिये कि वह ऐसा चाहता था।

ोह, डियर नहीं। मैंने कहा कि जो होगा देखा जायेगा और तुरन्त मैंने अपना ामान उठाया और उसे छोड़ दिया।

रिल : फिर क्या तुम कभी वापस नहीं गयी?

र्टल : कभी नहीं। मैं फ़ोकस्टोन में अपनी बहन के यहाँ कुछ दिन रहीं। फिर ने अपनी सहेली के साथ मिलकर हाइथ में एक चाय की दुकान खोल ली।

रिल : और उसका क्या हुआ?

र्टल : तीन साल में मर गया।

रिल : सचमुच।

ॉरा और अलेक का क्लोज़ शॉट।

ॉरा : क्या चाय नुकसान करती है? मेरा मतलब है, क्या चाय, कॉफ़ी से ज़्यादा क़सान करती है?

लेक : अगर यह एक व्यावसायिक परामर्श है तो मेरी फीस एक गिन्नी है।

ॉरा : तुम डॉक्टर क्यों बने?

लेक : यह एक लंबी दास्तान है। शायद इसलिये कि मैं थोड़ा आदर्शवादी व्यक्ति हूँ।

ॉरा : मैं समझती हूँ कि सभी डॉक्टरों के आदर्श होने चाहिये नहीं तो उनका काम सहनीय हो जायेगा।

लेक : तुम मुझे बात करने के लिये उत्साहित तो नहीं कर रही हो?

रा : क्यों नहीं? यही तो तुम्हारी पसंद का विषय है, नहीं क्या?

लेक : हाँ, है। मैं सचमुच बड़ा महत्वाकाँक्षी हूँ— खुद के लिये नहीं बल्कि पने विशेषज्ञता वाले क्षेत्र के लिये?

रा : क्या है तुम्हारी विशेषज्ञता वाला क्षेत्र, ज़रा सुनूँ तो।

लेक : निवारक औषधि।

रा : समझी।

लेक (हँसते हुये) : मुझे लगता है नहीं समझीं।

रा : मैं समझदार बनने की कोशिश कर रही थी,

लेक : अधिकांश अच्छे डॉक्टर— ख़ासकर जब वे युवा होते हैं— व्यक्तिगत ने देखा करते हैं— यही उनकी सबसे अच्छी बात है। हालाँकि कभी-कभी वे त्याधिक व्यावसायिक हो जाते हैं और उनके सपनों का दम घुटने लगता है और— मैं तुम्हें बोर कर रहा हूँ?

रा : नहीं तो— मुझे पूरी बात तो समझ में नहीं आ रही है, पर मैं बोर नहीं हो रही हूँ।

लेक : मेरा कहने का मतलब यह है कि सभी अच्छे डॉक्टर मूलतः उत्साही होते । लेखकों, चित्रकारों और पुजारियों की तरह उनमें भी अपने पेशे के प्रति निष्ठा ी है— भलाई करने की एक गहरी, निःस्वार्थ इच्छा।

रा : हाँ, मुझे भी ऐसा ही लगता है।

अलेक : तो बीमारी की रोकथाम करने का एक तरीक़ा इलाज करने के पचास तरीक़ों के बराबर महत्वपूर्ण है— यहाँ मेरा आदर्श आता है— निवारक औषधि का। दरअसल औषधि से कुछ लेना-देना नहीं है। इसका ताल्लुक है परिस्थितियों, रहन-सहन की परिस्थितियों से; कॉमन सेन्स और साफ़-सफ़ाई से, मिसाल के तौर पर मेरी विशेषज्ञता न्यूमोकॉनिओसिस है।

लॉरा : ओह, डियर।

अलेक : भौचक्की मत होओ, यह लगता बड़ा विराट है पर है साधारण सी चीज़। यह और कुछ नहीं बल्कि फेफड़े के तन्तुशोध की धीमी प्रक्रिया है जो धूल के कणों के श्वास नली में जाने पर होती है, अस्पताल में इलाज करने और नोट्स लेने का अच्छा मौका मिल जाता है— कोयले की खदानों के कारण।

लॉरा : तुम अचानक कम उम्र लगने लगे हो।

अलेक (आश्चर्यचकित) : सच?

लॉरा : बिल्कुल एक छोटे बच्चे की तरह।

अलेक : उन्हें ऐसा क्यों लगा?

लॉरा (उसे अपलक निहारते हुये) : मुझे नहीं पता— हाँ पता है।

अलेक (नर्मी से) : क्या?

लॉरा (आवाज़ में भय) : 'ओह, नहीं— मुझे नहीं पता, तुम कोयले की खदानों के बारे में बता रहे थे।

अलेक (उसकी आँखों में देखते हुये) : हाँ, कोयले की धूल के क़ारण एन्थ्रेकोसिस हो जाता है, जो बीमारी का एक विशेष रूप है।

लॉरा (सम्मोहित) : क्या और भी रूप हैं?

अलेक : चैलिकोसिस जो धातु की धूल से होता है— स्टील का काम जहाँ होता है, समझीं!

लॉरा : हाँ, बिल्कुल— स्टील का काम जहाँ होता है।

अलेक : और सिलिकोसिस-पत्थर की धूल सोने की खदानों में।

लॉरा (लगभग फ़ुसफुसाते हुये) : मैं समझ गयी। घंटी की आवाज़

लॉरा : तुम्हारी ट्रेन

अलेक (नीचे देखते हुये) : हाँ।

लॉरा : तुम्हें इसे नहीं छोड़ना चाहिये।

अलेक : नहीं।

लॉरा (आतंकित आवाज़ में) : क्या बात है?

अलेक (सप्रयास) : कुछ नहीं-कुछ भी तो नहीं।

लॉरा (सामाजिक होकर) : वक़्त बड़ा अच्छा गुज़रा— आज की दोपहर का मैंने खूब आनंद लिया।

अलेक : मैं कितना खुश हूँ— मैंने भी। इतने लंबे मेडिकल के शब्द बोलकर तुम्हें बोर करने के लिए माफ़ी चाहता हूँ।

लॉरा : मैं अपने को नीरस और मूर्ख़ महसूस करती हूँ जो इतना भी नहीं समझ पाती।

अलेक : क्या हम फिर मिल सकेंगे?

ट्रेन की आने की आवाज़

लॉरा : दूसरे प्लेटफ़ार्म पर आयेगी, है न? तुम्हें भागना पड़ेगा। मेरी फ़िक्र मत करो। मेरी ट्रेन थोड़ी ही देर में आती होगी।
अलेक : क्या हम फिर मिल सकेंगे?
लॉरा : हाँ— शायद, आप रविवार को केचवर्थ आ सको। यह ज़रा दूर तो है, मुझे मालूम है, पर हमें आपसे मिलकर सचमुच खुशी होगी।

अलेक (उत्तेज़ना से) : प्लीज़....प्लीज़.....
ट्रेन के रुकने की आवाज़.....
लॉरा : बात क्या हैं?
अलेक : अगले गुरुवार— इसी समय।
लॉरा : नहीं— यह संभव नहीं होगा— मुझे....
अलेक : प्लीज़, मैं प्रार्थना करता हूँ.....
लॉरा : तुम्हारी ट्रेन छूट जायेगी?
अलेक : ठीक है।

वह उठता है।

लॉरा : भागो।
अलेक (उसका हाथ— हाथ में लेते हुए) : गुडबाय।
लॉरा (हाँफ़ते हुये) : मैं आऊँगी।
अलेक : शुक्रिया, दोस्त।
वह लॉरा को छोड़कर चला जाता है। कैमरा लॉरा का एक बड़ा क्लोज़ शॉट लेता है जो प्रसन्नता से मुस्कुरा रही है।
लॉरा अपनी शॉपिंग बास्केट उठाती है और प्लेटफ़ॉर्म नंबर तीन वाले दरवाज़े की ओर जाती है। वह जलपानगृह से निकलकर प्लेटफ़ॉर्म पर आती है। वह अलेक की ट्रेन की तरफ़ देखती है जिसके स्टेशन छोड़ने की आवाज़ सुनायी दे रही है। लॉरा के खड़े होने के स्थान से अलेक का शॉटः वह डिब्बे की खिड़की से बाहर झाँक रहा है और उसकी तरफ हाथ हिलाता है जब ट्रेन स्टेशन छोड़ना शुरू करती है।
लॉरा का क्लोज़ अप। वह भी हाथ हिलाती है और उसकी आँखें जाती हुई ट्रेन को देखती रहती हैं।

लॉरा की आवाज़ : मैं वहाँ खड़ी और देखती रही ट्रेन को जाते हुये। मैं उसे तब तक देखती रही जब तक उसके पीछे जलने वाली लाल रोशनी तक अँधेरे में गुम नहीं हो गयी। मैंने कल्पना की कि वह शर्ले में उतरा, उसने अपना टिकट दिया और सड़कों से गुज़रता हुआ अपने घर का दरवाज़ा अपनी चाबी से खोला। उसकी पत्नी मैडलीन संभवतया उससे मिलने के लिये हॉल ही में होगी या शायद ऊपर अपने कमरे में— नाटी, साँवली, नाज़ुकसी— मुझे ताज़्जुब है, क्या वह उसे यह कहेगा, 'आज करडोमा में एक अच्छी महिला से मुलाकात हुई। हमने साथ-साथ लंच लिया और पिक्चर देखी— फिर अचानक मेरे दिमाग में आया कि वह ऐसा नहीं कहेगा। मुझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं था कि वह एक शब्द भी नहीं कहेगा और उस पल मुझे खतरे का पहला अहसास हुआ।

आने वाले इंजन के धुएँ का बादल स्क्रीन के पार उड़ता है, लॉरा लगभग धुंधली हो जाती है। ब्रेक लगने और धुएँ की आवाज आती है जैसे ही ट्रेन रुकती है। उसके विचार में बाधा आती है। वह दृश्य से बाहर ट्रेन की तरफ बढ़ती है। छँटते हुए धुँए में से हम उसे तीसरे दर्ज़े के भीड़-भाड़ वाले डिब्बे में प्रविष्ट होते देखते हैं।

लॉरा की आवाज़ : मैंने जल्दी से डिब्बे में चारों ओर देखा कि कहीं कोई मुझे देख तो नहीं रहा।

कैमरा डिब्बे में दूसरी तरफ बैठे यात्रियों से गुज़रता है।

लॉरा की आवाज़ : जैसे मेरे गुप्त विचारों को पढ़ सकते हों। कोई भी मेरी ओर नहीं देख रहा था सिवा दूसरे कोने में बैठे एक पादरी के। पादरी पर उसकी नजर जाते ही वह सिर दूसरी तरफ घुमा लेता है। लॉरा का क्लोज़ अप। वह अपनी लायब्रेरी की पुस्तक खोलती है।

लॉरा की आवाज़ : मैंने खुद को शर्म से लाल होते महसूस किया। मैंने अपनी पुस्तक खोल ली और पढ़ने का अभिनय करने लगी।

ट्रेन को एक झटका लगता है और वह चलने लगती है।

डिज़ॉल्व केचवर्थ स्टेशन पर, जहाँ लॉरा प्लेटफ़ॉर्म पर बैरियर की तरफ़ जा रही है। उसके चारों तरफ़ कई और यात्री भी हैं।

लॉरा की आवाज़ : केचवर्थ पहुँचने तक मैंने यह निश्चय कर लिया था कि अब अलेक से कभी नहीं मिलूँगी।

एक नारी स्वर : गुड इवनिंग, मिसेज जेसन, लॉरा नहीं सुनती।

लॉरा की आवाज़ : एक अजनबी के साथ मूर्खतापूर्ण और घटिया फ़्लर्टिंग थी यह। वह एक-दो कदम चलती है, फिर पलटती है,

लॉरा : ओह-ओह-गुड इवनिंग।

डिज़ॉल्व लॉरा के घर पर। वह अगले दरवाज़े तक चलती है।

लॉरा की आवाज़ : मैं ज़रा जल्दी और खुशी-खुशी घर की तरफ बढ़ी। मुझे मालूम हो गया था कि मैं मूर्खों की तरह व्यवहार कर रही थी, पर आखिरकार मूर्खता से कोई नुकसान तो नहीं हुआ था।

लॉरा अगला दरवाज़ा खोलती है।

वह हॉल में प्रवेश करती है और सीढ़ियों की तरफ देखती है।

लॉरा की आवाज़ : तुम मुझे हॉल में मिले थे। तुम्हारा चेहरा तनावग्रस्त और चिंतित था और मेरा दिल बैठ गया था।
लॉरा : फ़्रेड , क्या बात है?

कट फ़्रेड पर, जो सीढ़ियाँ उतरकर हॉल में आता है।
फ़्रेड : सब ठीक है, पर तुम्हें शांत रहना होगा, अपसेट मत होना।
लॉरा : क्या है? क्या कोई दुर्घटना हो गयी है?
फ़्रेड : बॉबी को स्कूल से घर लौटते समय एक कार ने टक्कर मार दी।

लॉरा : हल्के से चीख़ती है।
फ़्रेड : इसमें सीरियस कुछ भी नहीं है— उसे तो मडगार्ड से थोड़ी सी चोट भर आयी थी पर वह किनारे से टकराया था और मुझे ज़रा सा धक्का लगा है— ऊपर डॉक्टर उसे देख रहे हैं।
लॉरा अपनी पार्सल और पुस्तक फेंक देती है और दौड़ती हुई ऊपर जाती है अपने कोट को झटपट उतारते हुये। फ़्रेड पीछे-पीछे जाता है।
नाइट नर्सरी के खुले दरवाज़े से हम लॉरा को ऊपर पहुँचकर कमरे की ओर बढ़ते हुए देखते हैं। वह दरवाज़े पर रुक जाती है जब वह बॉबी के बिस्तर के पास एक डॉक्टर को खड़ा हुआ देखती है। बॉबी की आँखें बंद हैं और उसके सिर व दाहिने हाथ पर पट्टी बँधी है। डॉक्टर अपने होंठों पर ऊँगली रखकर इशारा करता है।
डॉक्टर : अब ठीक है, मिसेज जेसन-चिन्ता की कोई बात नहीं कुछ ही घंटों में वह बिल्कुल ठीक हो जायेगा।



लॉरा बॉबी के बिस्तर के पास घुटने टिकाकर बैठ जाती है। डॉक्टर अब दृश्य का महत्वहीन अंग बन जाता है, सिर्फ उसके पैर दिखाई देते हैं।

लॉरा (फुसफुसाते हुए) : आपको यकीन है— आपको यकीन है कि यह सीरियस नहीं है?

डॉक्टर (मुस्कुराते हुए) : बिल्कुल— पर मैं कहूँगा उसका इस तरह बच निकलना बड़े भाग्य की बात है।

डॉक्टर दृश्य से बाहर चला जाता है।

डॉक्टर (दूर) : मैंने उसे नींद की दवा दे दी है और मेरी सलाह है कि उसे दो दिन घर पर ही रखा जाये। उसे थोड़ा मानसिक आघात भी पहुँचा होगा और उसकी दाँयी बाँह तो बुरी तरह छिल भी गयी है।

डॉक्टर की आवाज़ शनैःशनैः लुप्त होती जाती है।

लॉरा की आवाज़ : मुझे इतना अचानक लगा फ्रेड । उसकी तरफ़ देखकर, उसके सिर पर बँधी पट्टियों को देखकर मैंने अपनी भावनाओं को छुपाने का प्रयास किया, पर अंदर ही अंदर मैं उन्मादी हो रही थी जैसे इसके लिये दोषी मैं ही होऊँ— एक तरह की सज़ा-एक भयावह, अमंगल चेतावनी।

डिज़ाल्व लॉरा और बॉबी पर। वह उसके बिस्तर पर बैठी है। नौकरानी दृश्य में आती है और बॉबी को ब्रेड और दूध देती है।

लॉरा की आवाज़ : एक-दो घंटे बाद सब कुछ सामान्य हो गया था। वह इस हादसे का मज़ा लेने लगा था। उसे इस बात से बड़ी खुशी थी कि वह आकर्षण का केन्द्र बना हुआ था। तुम्हें याद है हमने वह शाम उसके भविष्य की योजना बनाते हुये काटी थी?

डिज़ॉल्व लायब्रेरी में फ्रेड और लॉरा पर। वे आग के इधर-उधर बैठे हुये हैं। फ्रेड वर्ग पहेली लेकर सोफ़े पर बैठा है और लॉरा सिगरेट पी रही है।

लॉरा : पर अभी वह इतना छोटा है कि खुद कोई निर्णय कैसे ले सकता है?

फ्रेड : यह एक अच्छा पेशा है— और अगर लड़के की इसमें रुचि है तो....

लॉरा : हमें यह कैसे पता पड़ेगा कि उसकी इसमें रुचि है? अगले हफ़्ते शायद वह इंजन ड्रायवर बनना चाहे।

फ्रेड : इंजन ड्रायवर तो वह पिछले हफ़्ते बनना चाहता था।

लॉरा : पर फिर भी यह कितना निर्णायक है, इस उम्र के बच्चे को नौ सेना में भेजना।

फ्रेड : यह एक अच्छा पेशा है।

लॉरा (थोड़ा खीझकर) : मैं जानती हूँ यह एक अच्छा पेशा है, डियर और यह भी जानती हूँ कि उसे दुनिया देखने को मिलेगी और हर बंदरगाह पर उसकी एक पत्नी होगी और वह हर एक को "सर" कहकर संबोधित करेगा— पर कभी हमारे बारे में सोचा है?

फ़्रेड : हमारे बारे में, क्या मतलब?

लॉरा : वह हमारी नज़रों से दूर हो जायेगा.....

फ़्रेड : फिज़ूल की बात

लॉरा : यह फिज़ूल की बातें नहीं है। वह लड़का चिकना चेहरा लेकर समुंदर में जायेगा और अगली बार जब हम उसे देखेंगे वह एक लंबी दाढ़ी और तोता लिये हुए होगा।

फ़्रेड : मुझे लगता है नौ सेना के प्रति तुम्हारा दृष्टिकोण विक्टोरियन है, माई डियर।

लॉरा : वह हमारा इकलौता पुत्र है और मैं उसे अपनी नज़रों के सामने बड़े होते देखना पसंद करूँगी।

फ़्रेड : ठीक है। हम किसी ऑफ़िस में उसकी नौकरी लगवा देंगे और तब तुम हर सुबह 8.50 पर उसे विदा कर सकोगी।

लॉरा (सिगरेट बुझाते हुये) : तुम तो चिढ़ा रहे हो। तुम अच्छी तरह जानते हो कि मुझे यह अच्छा नहीं लगेगा।

लॉरा उठती है और फ़्रेड के पीछे सोफा मेज़ की ओर जाती है। मेज़ पर एक बास्केट रखी है, जिसमें से वह ऊन आदि निकालना शुरू करती है।

फ़्रेड : ठीक है-ठीक है, जैसी तुम्हारी मर्ज़ी।

थोड़ा ठहरकर दुबारा फ़्रेड और लॉरा के व्यक्तिगत क्लोज़ अप पर।

लॉरा (सहसा) : फ़्रेड ....

फ़्रेड व्यस्तता से खाने गिनता हुआ.....हूँ—

लॉरा : आज मैंने एक अजनबी के साथ लंच किया और सिनेमा देखा।



फ़्रेड : अच्छा किया।
लॉरा : वह कितना अच्छा था....वह एक डॉक्टर है।
फ़्रेड (तल्लीनता से शब्द भरता हुआ) : एक श्रेष्ठ व्यवसाय.....
लॉरा (असहाय होकर) : ओह डियर।
फ़्रेड : वह रिचर्ड द थर्ड ही था न जिसने कहा था, 'माई किंगडम फॉर ए हॉर्स'।
लॉरा : हाँ, डियर।
फ़्रेड : मैं इतना ही कह सकता हूँ कि काश उसने ऐसा न कहा होता— इससे हर चीज़ का नाश हो जाता है।
लॉरा : मैंने सोचा एकाध शाम हम उसे डिनर पर बुला लें।
फ़्रेड : बिल्कुल (ऊपर देखकर) किसे?
लॉरा : डॉक्टर हार्वे। जिसके बारे में तुम्हें बता रही थी।
फ़्रेड : डिनर पर।
लॉरा : लंच के समय तुम घर पर होते कहाँ हो?
फ़्रेड : सही कहा।
लॉरा मेज़ छोड़ती है और फ़्रेड के बाजू में बैठ जाती है।
लॉरा (हँसना शुरू करते हुये लगभग उन्मादी) : ओह, फ़्रेड, फ़्रेड
और लॉरा का क्लोज़ शॉट।
फ़्रेड (ऊपर देखते हुए) बात क्या है?
लॉरा (और हँसते हुये) : कुछ नहीं, बस यही कि
वह बात पूरी नहीं करती पर असहाय तब तक हँसी हँसती है जब तक कि उसे अपनी आँखें नहीं पोंछना पड़ती।
लॉरा : ओह, फ़्रेड ....
फ़्रेड : मुझे तो ऐसी कोई भारी हँसी की बात नज़र नहीं आती।
लॉरा : मुझे आती है— सही है, डार्लिंग। मैं तुम पर नहीं हँस रही हूँ मैं तो अपने आप पर हँस रही हूँ। मैं दुनिया की सबसे बड़ी मूर्ख हूँ जो उन चीज़ों के बारे में चिंतित रहती है जिनका वास्तव में कोई अस्तित्व ही नहीं है जो तिल का ताड़, राई का पहाड़ बनाती है।
फ़्रेड : मैंने पहले ही कहा था कि इसमें कुछ भी गंभीर नहीं है। तुम्हें इतना चिंतित होने की ज़रूरत ही क्या थी.....
लॉरा : नहीं..... मुझे अब मालूम है सच में मालूम है.....
वह हँसती रहती है।
डिज़ॉल्व करडोमा कैफे के अंदरूनी हिस्से पर। लॉरा उसी मेज़ पर बैठी है। वह अकेली है। लेडीज़ ऑर्केस्ट्रा बज रहा है हमेशा की तरह।
लॉरा की आवाज़ : मैं करडोमा गयी और मैं उसी मेज़ पर बैठने में सफल हो गयी। मैंने थोड़ा सा इंतज़ार किया पर वह नहीं आया..... लेडीज़ ऑर्केस्ट्रा सदा की तरह बज रहा था। मैंने ऐलोवादिका की तरफ़ देखा। पिछले हफ़्ते वह हास्यास्पद लग रही थी पर आज़ वह हास्यास्पद नही लग रही थी— वह बेचारी दयनीय लग रही थी।

डिज़ॉल्व लॉरा पर, जो हॉस्पिटल के पास से गुज़र रही है।

लॉरा की आवाज़ : लंच के बाद मैं अस्पताल के पास गुज़री— मुझे याद है मैंने खिड़कियों को देखा था और सोचा था कि क्या वह अंदर है और क्या कोई ऐसी दुर्घटना हो गयी है जिस वज़ह से वह मिलने नहीं आ पाया।

डिज़ॉल्व जलपानगृह। रात का समय है। लॉरा काउंटर छोड़ रही है, चाय का कप उठाये हुये है, जिसे अभी-अभी मिर्टल ने भरा है। वह एक मेज़ पर जाती है, बैठ जाती है।

लॉरा की आवाज़ : मैं हमेशा से थोड़ा पहले ही स्टेशन पहुँच गयी थी। मुझे पिक्चर में मज़ा नहीं आया था। इसमें संगीत का खूब शोर-शराबा था और ऐसी पिक्चरें मुझे अच्छी नहीं लगती। मैं पिक्चर खत्म होने के पहले ही उठकर चली आयी।

मिर्टल कमरे के बीच में रखे स्टोव तक आती है। वह उसमें कोयले डालने के लिये थोड़ा झुकती है। अल्बर्ट गॉडबी प्रविष्ट होता है और उसे ऐसी झुकी अवस्था में देखकर वह दबे पाँव उसकी ओर बढ़ता है।

लॉरा अल्बर्ट को देख रही है। एक पल बाद दूर एक ज़ोरदार तमाचे की आवाज़ आती है। लॉरा मुस्कुराती है। मिर्टल फिर से सीधी खड़ी हो जाती है।

मिर्टल : अल्बर्ट गॉबी, इतनी हिम्मत कैसे हुई तुम्हारी?

अल्बर्ट : मैं खुद को रोक नहीं पाया।

मिर्टल : मैं चाहूँगी कि तुम अपने हाथों को अपने पास ही रखो।

मिर्टल दृश्य के बाहर काउंटर की तरफ़ बढ़ती है।

अलबर्ट : तुम शरमा रही हो— तुम गुस्से में बड़ी प्यारी लगती हो— एक रूठी परी की तरह। अल्बर्ट उसके पीछे जाता है।

काउंटर पर हम मिर्टल और अल्बर्ट के व्यक्तिगत क्लोज़ अप देखते हैं।

मिर्टल : तुम और तुम्हारी रूठी परी— यहाँ आकर इतनी गुस्ताख़ी करने की मज़ाल....

अल्बर्ट : मुझे लगता है कि हम लोगों के बीच पिछले सोमवार को जो बातें हुई थीं उसके बाद एक दोस्ताना तमाचे से तुम्हें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

मिर्टल : भूल जाओ पिछले सोमवार की बातें। मैं इस वक्त ड्यूटी पर हूँ। क्या होता अगर मिस्टर सॉन्डर्स खिड़की में से देख लेते?

अल्बर्ट : अगर मिस्टर सॉन्डर्स को खिड़कियों में से देखने की आदत है, तो अब वक्त आ गया है कि कोई देखने लायक चीज़ देखें।

मिर्टल : तुम्हें खुद पर शर्म आनी चाहिये।

अल्बर्ट : यह तो खुशमिजाज़ी है— इस पर पागल मत होओ।

मिर्टल : खुशमिजाज़ी? लो, अपनी चाय लो और भगवान के लिए चुप हो जाओ।

अल्बर्ट : वैसे भी, यह तुम्हारा ही दोष था,

मिर्टल : मुझे नहीं मालूम तुम किसकी बात कर रहे हो?

अल्बर्ट : मैं आज रात की बात सोच रहा हूँ।

मिर्टल : अगर तुमने अपनी हरकतें नहीं सुधारीं तो आज की रात नहीं आयेगी न ही कोई और रात।

अल्बर्ट : हमें एक चुंबन दो।

मिर्टल : मैं ऐसा कुछ भी नहीं करूँगी। वह महिला हमें देख लेगी।

अल्बर्ट : जल्दी से— काउंटर के पार से ही।

वह काउंटर के पीछे से उसकी बाँह पकड़ लेता है।

मिर्टल : अल्बर्ट, बाज़ आओ।

अल्बर्ट : छोड़ो भी, मान जाओ।

मिर्टल : मुझे इसी वक्त छोड़ दो।

अल्बर्ट : मान भी जाओ, बस एक।

उनमें एक मिनट हाथापाई होती है जिससे केक का ढेर नीचे गिर पड़ता है।

मिर्टल : लो मेरी Banburys सब फर्श पर गिर पड़ी।

अल्बर्ट उन्हें समेटने के लिये फर्श पर झुकता है।

कट स्टेनले पर जो दरवाज़े से प्रविष्ट होता है।

स्टेनले : बिल्कुल ठीक समय पर या फिर वस्त्रालय में पैदा होना था।

लॉरा घड़ी की तरफ देखती है। शॉपिंग बास्केट उठाती है और नीचे वाले संवाद के समय कैमरा उसके साथ दरवाज़े तक चलता है जो प्लेटफ़ॉर्म नंबर तीन पर खुलता है।

मिर्टल (दूर) : अपना मुँह बंद करो और केक उठाने में मिस्टर गॉडबी की मदद करो। चलो भी, मुँह फाड़े क्यों खड़े हो।

लॉरा जलपानगृह के दरवाज़े से प्लेटफ़ॉर्म नंबर तीन पर आती है।

लॉरा की आवाज़ : जैसे ही मैं जलपानगृह से बाहर आयी मैंने एक ट्रेन आते हुये देखी— उसकी ट्रेन। वह प्लेटफ़ॉर्म पर नहीं था और मैं अचानक भयभीत हो उठी कि शायद हमारी मुलाकात अब कभी नहीं हो सकेगी।

डिज़ॉल्व प्लेटफ़ॉर्म नंबर दो और तीन के सुरंगपथ पर। अलेक प्लेटफ़ॉर्म पर आकर लॉरा की ओर भागता है।

अलेक (हाँफते हुये) : ओह, माई डियर, आई एम सो सॉरी-सो टेरिबलि सॉरी

लॉरा (जल्दी) : तुम्हारी ट्रेन-छूट जायेगी

(वे प्लेटफ़ॉर्म पर साथ-साथ भागते हैं)

अलेक (चलते-चलते) : मेरे पास कोई उपाय नहीं था कि तुम्हें सूचित कर सकूँ— सर्जन को अचानक ऑपरेशन करना पड़ा— हालाँकि मामला गंभीर नहीं था। पर मुझे वहाँ रुकना पड़ा क्योंकि वह मेरा ख़ास मरीज़ था। तुम समझ गईं, हैं ना?

लॉरा (अब ज़रा हॉफ़ते हुये) : हाँ इससे कोई फर्क नहीं पड़ता।

वे मुड़ते हैं और कैमरा उनके साथ प्लेटफ़ॉर्म नंबर चार तक जाने वाले सुरंगपथ पर दौड़ता है।

अलेक : मैंने पहले सोचा कि करडोमा में एक चिट्ठी लिख भेजूँ, फिर मैंने विचार किया कि शायद वे लोग तुम्हें खोज न पायें या फिर तुम्हारा नाम बार-बार पुकारते न रहें जिससे तुम्हें शर्मिन्दा होना पड़े। और मैं.....

वे प्लेटफ़ॉर्म नंबर चार की ओर जाने वाली सीढ़ियों पर भागते हैं।

लॉरा : अब और कुछ मत कहिये। मैं सब समझ गयी.....

एक सीटी बजती है जब लॉरा और अलेक प्लेटफ़ॉर्म पर पहुँचते हैं।
लॉरा : जल्दी करो न सीटी बज चुकी है।
वे रूकी ट्रेन की तरफ़ तेज़ कदमों से बढ़ते हैं।
अलेक तृतीय श्रेणी के एक डिब्बे का दरवाज़ा खोलता है और लॉरा की तरफ मुड़ता है।
अलेकः मुझे इतनी राहत महसूस हो रही है कि बात साफ़ करने का मुझे मौका मिल गया। मुझे यकीन नहीं था कि मैं तुम्हें फिर कभी देख पाऊँगा।
लॉरा : कितना मूख़र्तापूर्ण ख़्याल है।
ट्रेन चलने लगती है।
लॉरा : जल्दी-जल्दी।
अलेक ट्रेन में कूदता है और खिड़की से बाहर झाँकता है। लॉरा ट्रेन के साथ-साथ कुछ कदम तक चलती है।
अलेक : अगले गुरुवार
लॉरा : हाँ अगले गुरुवार।

ट्रेन की रफ़्तार लॉरा से तेज है और अलेक दृश्य से ओझल हो जाता है। लॉरा अलेक की जाती हुई ट्रेन को निहारती रहती है, हाथ हिलाती है। और तब तक निस्पंद खड़ी रहती है जब तक दूर ट्रेन की आवाज़ अश्रव्य हो जाती है। लाउडस्पीकर पर एक कर्कश आवाज़ आती है :
केचवर्थ की ओर जाने वाली रेलगाड़ी प्लेटफ़ॉर्म क्रमांक तीन पर आ चुकी है। लॉरा को अचानक इस बात का अहसास होता है कि उसकी ट्रेन उससे छूट सकती थी और वह सुरंगपथ की सीढ़ियों की तरफ भागती है।
डिज़ॉल्व लॉरा और अलेक के क्लोज़ शॉट पर। दोनों पैलेडियम सिनेमा की बालकनी के अगले भाग में बैठे हैं। दोनों हँस रहे हैं और स्पष्टतः प्रसन्नचित हैं। रोशनी होती है।
अलेक : सितारे अपना मार्ग बदल सकते हैं, ब्रह्मांड धूँ-धूँ करके जल सकता है और संसार का ध्वंस और विखंडन हो सकता है पर डोनाल्ड डक का कभी बाल भी बाँका नहीं हो सकता।
लॉरा : मुझे वह इतना प्यारा लगता है, उसकी विकराल ऊर्जा, उसके अंधे, कुंठित, क्रोधान्माद।

रोशनियाँ मद्धिम होने लगती है।

अलेक : अब लंबी पिक्चर शुरू होने वाली है। हँसना बंद-अब आँसुओं की बारी है।
डिज़ॉल्व पिक्चर के शीर्षक की ओर जो स्क्रीन पर चमकता है। यह वही फ़िल्म है जिसका दो हफ़्ते पहले ट्रेलर दिखाया गया था : **फ़्लेम ऑव पैशन।**
लॉरा की आवाज़ : कितनी भयानक फ़िल्म थी।

डिज़ॉल्व लॉरा और अलेक पर जो बाहर जाने वाली आखिरी सीढ़ियों पर चल रहे हैं। दरवाज़े पर खड़े गेटकीपर की पीठ शॉट के अग्रभाग में है।
लॉरा की आवाज़ : हम पिक्चर खत्म होने के पहले ही बाहर निकल आये लुक-छुपकर जैसे कोई गुनाह कर रहे हों। गेटकीपर ने हमें भावशून्य तिरस्कार से देखा।
डिज़ाल्व लॉरा और अलेक के मीडियम शॉट पर जो सिनेमा से बाहर निकल रहे हैं। अलेक लॉरा की बाँह ले लेता है, जब वे सड़क पर पहुँचते हैं।
लॉरा की आवाज़ : यह एक शानदार दोपहर थी और फिर से खुली ताज़ी हवा में आने से बड़ी राहत मिली। क्या तुम्हें पता है, मैं सोचती हूँ कि हम लोग कुछ अलग प्रकृति, अलग स्वाभाव के होते, अगर हम एक गर्म, उजली जलवायु में रह रहे होते। तब हम इतने गैर-मिलनसार, शर्मीले और मुश्किल नहीं होते।
डिज़ॉल्व अलेक और लॉरा के मनोहारी शॉट पर जब वे झील के किनारे चलते हैं।
लॉरा की आवाज़ : सच में फ्रेड., यह एक शानदार दोपहर थी। चन्द छोटे-बच्चे नाव बहा रहे थे। उनमें से एक तो मुझे बिल्कुल बॉबी जैसा लगा— मुझे मालूम है इससे मेरी अंतरात्मा को मुझे कचोटना चाहिये था, पर ऐसा नहीं हुआ।
कुछ क्षणों के बाद अलेक चलना बंद कर देता है और लॉरा की तरफ पलटता है।
लॉरा की आवाज़ : अलेक ने सहसा कहा कि पानी को देखना उसे ज़रा भी अच्छा नहीं लगता और यह भी कि पानी में होना उसे बहुत अच्छा लगता है।

दृश्य के अग्रभाग में एक या दो खेने वाली नौकायें हैं जो ठंड के लिये ढँकी हुयी है।
पृष्ठभूमि में, एक भाव वाला अलेक और लॉरा को किनारे से ठेल रहा है।
लॉरा की आवाज़ : सभी नावें ढँकी हुयी थीं पर हमने किसी तरह बूढ़े बाबा को राज़ी कर लिया कि वह हमें एक नाव दे दें।
नाव वाले का क्लोज़ शॉट।
लॉरा का स्वर : उसने सोचा होगा कि हम लोग पागल हैं। शायद वह सही था।
नाव पानी में है, नाव वाला अग्रभाग में।
लॉरा का स्वर ..... अलेक ने बड़ी तेज़ी से नाव खेयी और मैंने अपना हांथ पानी में डाल दिया पानी खूब ठंडा था पर मुझे बड़ा मज़ा आया।
अलेक और लॉरा नाव में हैं। लॉरा शॉट के अग्रभाग में है। अलेक के हाथ लगने से चप्पू-कुण्डे से बाहर निकल आता है।
लॉरा : तुम्हें बहुत अच्छा नाव खेना नहीं आता। है न यही बात?
अलेक (चप्पू को वापस चप्पू-कुण्डे में रखते हुये) : मैं तुम्हें बिल्कुल ईमानदारी से बताने जा रहा हूँ कि मुझे नाव खेना ज़रा भी नहीं आता और अगर तुम मुसीबत में नहीं फँसना चाहतीं तो बेहतर होगा कि तुम नाव खेना शुरू कर दो। (स्टिल)

लॉरा हँसती है और कमान सँभाल लेती है। नाव सीधी दिशा में नहीं चल रही है।
लॉरा का स्वर : फ्रेड., हमने खूब मस्ती की। मैं इतनी खुश थी, इतनी आनंदित, इतनी उन्मुक्त और यही सबसे शर्मनाक बात थी— यही तुम्हें सबसे अधिक आहत

करेगा जब तुम्हें इसका पता पड़ेगा कि मैं इतनी उत्साही भी हो सकती हूँ तुमसे दूर एक अज़नबी के साथ।

कैमरा नाव के साथ चल रहा है। लॉरा शॉट के अग्रभाग में है। वे एक बहुत नीचे पुल के क़रीब पहुँच रहे हैं।

लॉरा : ज़रा देखकर..... शायद हम निकल न पायें।

अलेक (पीछे मुड़कर) : बाँयें मोड़ो। पुल जैसे-जैसे पास आता जाता है, अलेक अपने पैरों पर खड़ा हो जाता है। लॉरा गलत रस्सा खींच देती है और अलेक की तरफ प्रश्नवाचक निगाहों से देखती है। एक धमाका होता है और नाव पुल से टकरा जाती है।

लॉरा का स्वर : मुझे बाँये और दाँये में अंतर ही नहीं पता था।

नाव भयानक तरीके से हिलती-डुलती है और एक छपाक की आवाज़ आती है। लॉरा पानी की तरफ देखती है और हँसने लगती है। अलेक झील में खड़ा है। पानी उसके घुटनों तक का ही है। वह काफी गीला हो चुका है।

लॉरा का क्लोज़ अप, जो हँसते-हँसते पागल हो रही है।

डिज़ॉल्व बोट हाऊस के अंदरूनी हिस्से पर। अलेक की पतलून सूख रही है अलेक खुद एक उल्टी डोंगी पर बैठा है। वह एक ओवरकोट पहने हुये है, जिसे देखने से साफ पता चलता है कि वह उसका नहीं है। वह सिगरेट पी रहा है। लॉरा की तरफ देखता है।

लॉरा बॉयलर के पास घुटनों के बल बैठती है और अलेक के जूते-मोज़े सूखने के लिये फैला देती है। वह उठती है और बढ़ई की बेंच तक जाती है, जहाँ गैस पर केतली उबल रही है पास ही दूध की बोतल और दो कप रखे हैं। शॉट के पृष्ठभाग में नाव, चप्पू और डोंगियों आदि का संग्रह है। लॉरा चाय बनाना शुरू करती है।

लॉरा : अंग्रेज़ हमेशा पागलों से अच्छा व्यवहार करते हैं। नाव वाले ने हमें पागल समझा था पर देखो तो सही उसने हमारे लिये कितना कुछ किया है ओवरकोट, चाय, दूध यहाँ तक कि शक्कर भी।

अलेक का क्लोज़ शॉट जो उसे चाय तैयार करते देखता है। एक पल बाद हम लॉरा के अलेक की तरफ़ आने की आवाज़ सुनते हैं। वह अपनी आँखों को उस पर स्थिर किये हुये है। लॉरा का हाथ दृश्य में आता है और उसे चाय का कप देता है।

अलेक : शुक्रिया।

लॉरा पुरानी लकड़ी की कुर्सी पर बैठ जाती है और वे दोनों अपनी चाय हिलाने लगते हैं।

अलेक (धीमे से) : तुम्हें मालूम है क्या हुआ, नहीं क्या?

लॉरा : हाँ-हाँ, मालूम है।

अलेक : मैं तुमसे प्यार करने लगा हूँ।

लॉरा : हाँ जानती हूँ।

अलेक : सच-सच बताओ मेरी लॉरा जिस बात का मुझे यकीन है क्या वह सच हो सकती है।
लॉरा (फुसफुसाते हुए) : तुम्हें किस बात का यकीन है? (स्टिल)
अलेक : यही कि जो मेरे साथ हुआ है, वह तुम्हारे साथ भी हुआ है— कि तुम भी मुझे चाहने लगी हो।
लॉरा (आँसुओं के नज़दीक) : कितनी बचकानी बात है।
अलेक : क्यों?
लॉरा : मैं तुम्हें कितना कम जानती हूँ।
अलेक : यह बात तो है, पर फिर भी है न.?
लॉरा (आह भरकर) : हाँ यह हकीकत है।
अलेक (उसकी तरफ हल्की सी हलचल करता है) : ..... लॉरा
लॉरा : प्लीज़ नहीं, हमें समझदारी से काम लेना चाहिये
प्लीज़ समझदार बनने में मेरी मदद करो ना
हमें इस तरह की बातें नहीं करनी चाहिये। हमें भूलनी होंगी वे तमाम बातें जो हमने एक-दूसरे से कही हैं, वे सारे लमहें जो हमने साथ-साथ जिये हैं।
अलेक : अभी नहीं.....बिल्कुल अभी नहीं।
लॉरा (आतंकित होकर) : पर हमें यही करना होगा.....क्या तुम्हें ऐसा नहीं लग रहा। अलेक (आगे झुकते हुये और उसका हाथ लेते हुये) : सुनो, अब समझदार बनने के लिये बहुत देर हो चुकी है। बहुत देर हो चुकी है वह सब भूलने के लिये जो हमारे बीच गुज़रा है और यूँ भी, हमारे कहने या न कहने से फ़र्क भी क्या पड़ना था। हमें अहसास है हम दोनों इसी अहसास को लेकर काफ़ी अरसे से जी रहे हैं।
लॉरा : तुम ऐसा कैसे कह सकते हो— मेरी-तुम्हारी मुलाक़ात ही कितने दिनों की है— चार हफ़्तों की ही तो। हमारी पहली बातचीत पिछले गुरुवार को ही तो हुई थी।
अलेक : पिछले गुरुवार को— क्या तब से अब तक एक अरसा नहीं हो गया— तुम्हारे लिये भी?
सच कहना।
लॉरा : हाँ।
अलेक : तुमने कितनी बार निश्चय किया था कि अब तुम मुझसे कभी नहीं मिलोगी?
लॉरा : एक दिन में कई-कई बार।
अलेक : मैंने भी.....
लॉरा : आह, अलेक,
अलेक : मैं तुमसे प्यार करता हूँ। तुम्हारी बड़ी-बड़ी आँखों को प्यार करता हूँ। तुम्हारी मुस्कान को प्यार करता हूँ, तुम्हारी शर्माने की अदा पर मरता हूँ और मेरे मज़ाक पर हँसने के अंदाज़ को भी प्यार करता हूँ।
लॉरा : प्लीज़ और कुछ मत कहो....



अनुवादः सुधीर दीक्षित

शेष अंक 13 में...

पटकथा

आगामी अंक

भारतीय सिनेमा के शीर्षस्थ फ़िल्मकार
श्याम बेनेगल पर एकाग्र

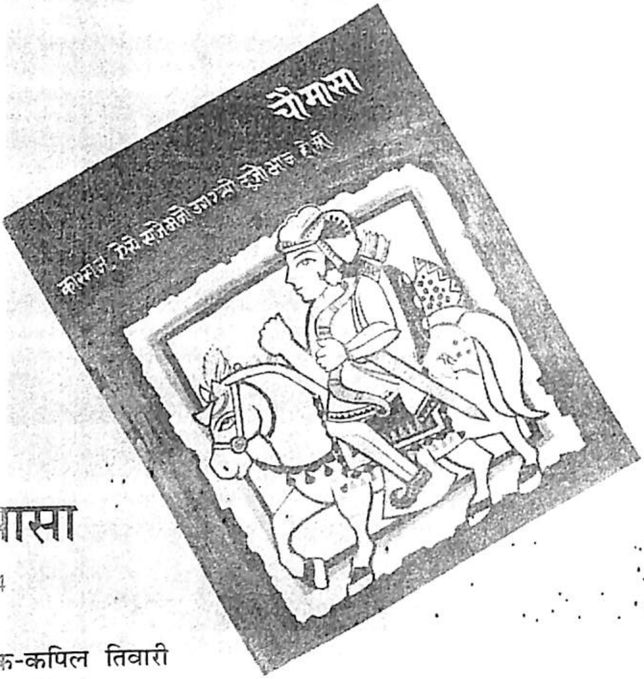


परिवर्तन की प्रकृति
सिनेमा में अभिरुचि
सिनेमा में मानवीयता
संगीत का उपयोग
यथार्थ सत्ता की सामाजिक प्रकृति जैसे
समकालीन प्रासंगिक विषयों पर
श्याम बेनेगल की दृष्टि,

इसी क्रम में चिदानन्द दासगुप्त, आशीष नन्दी, रत्नाकर त्रिपाठी, विनोद भारद्वाज, भास्कर सिन्हा, शैलेन्द्र तिवारी के सार्थक हस्तक्षेप

भारतीय सिनेमा पर सम्यक सोच विचार की सिलसिलेवार शुरुआत

पटकथाः शास्त्रीय सिनेमा के क्षेत्र में विचारों की
कारगर पहल



चौमासा

अंक 24

सम्पादक-कपिल तिवारी

(आदिवासी लोककला, संस्कृति, साहित्य एवं वाचिक परम्परा पर एकाग्र प्रकाशन)

''माड़िया हत्या और आत्महत्या'' पुस्तक के पहले सम्पूर्ण हिन्दी अनुवाद के बाद पत्रिका के इस अंक से आदिवासी संस्कृति के अध्येता, विचारक डॉ. वेरियर एल्विन की विश्व प्रसिद्ध पुस्तक ''मुरिया एण्ड देयर घोटुल'' के हिन्दी अनुवाद क्रमशः प्रकाशित करने की वृहत श्रृंखला की शुरुआत।

इसके अलावा स्थायी विशिष्ट स्तंभों, भील आदिवासियों की लोक कथाएँ और भोजपुरी चैता गीत के पहले प्रमाणिक संकलन के साथ अन्य महत्वपूर्ण लेखों का प्रकाशन।

मूल्य चार रुपये

संपर्क

सचिव

मध्यप्रदेश आदिवासी लोक कला परिषद,

प्लाट नं. 17, मालवीय नगर,

भोपाल-462 003.

फोन-551878.

नये फैसले, नयी योजनाएं!

प्राथमिक शिक्षा के व्यापक फैलाव के लिए 200 से कम जनसंख्या वाले दूर दराज के ग्रामों में शालाएं चलाने वाले स्वयंसेवी संगठनों को प्रोत्साहन। शालाएं चलाने का अनुदान शासन देगा।

□

ग्रामीण क्षेत्रों में स्वास्थ्य सुविधाओं के लिए भी स्वैच्छिक संगठनों को जिम्मेदारी देने का निर्णय

□

शासकीय प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों और उपस्वास्थ्य केन्द्रों का दायित्व लेने वाली संस्थाओं को राज्य शासन सालाना खर्च की राशि का अनुदान उपलब्ध कराएगा।

□

ग्रामीण क्षेत्रों की गरीब महिलाओं को स्वयं का रोजगार स्थापित करने में मदद के लिए इस वर्ष चार और जिलों में महिला और बाल विकास के कार्यक्रम।

□

भोपाल, इन्दौर और रायपुर में तीन महिला प्रशिक्षण सह-रोजगार केन्द्रों की स्थापना।

□

रचनात्मक कार्य करने वाली संस्थाओं के लिए लोक कल्याण के दायित्वपूर्ण अवसर।